पुरस्कार से
सम्मानित

# निशीथ

## एवं अन्य कविताएँ

उमाशंकर जोशी

# निशीथ

## एवं
## अन्य कविताएँ

मूलकृति

उमाशंकर जोशी

रूपान्तर

रघुवीर चौधरी

भोलाभाई पटेल
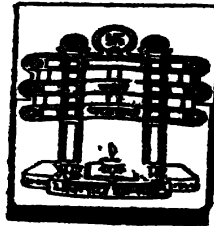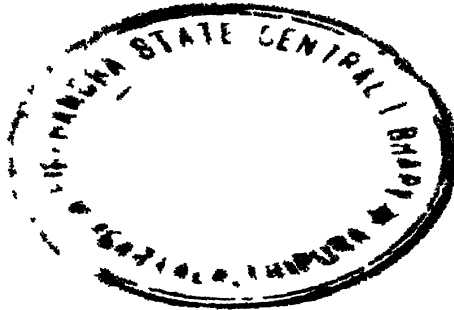
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

राष्ट्र भारती
लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 273

निशीथ एवं अन्य कविताएँ
(कविता-संग्रह)
उमाशंकर जोशी

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इंस्टीट्यूशनल एरिया,
लोधी रोड, नई दिल्ली-110003

मुद्रक
शकुन आफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

NISHEETH EVAM ANYA KAVITAYEN (Poems) by Umashankar Joshi. Published by Bharatiya Jnanpith, 18, Institutional Area, Lodhi Road, New Delhi-110003 & Printed by Shakun Offset, Naveen Shahdara, Delhi-110032.

दिवंगत

ज्योत्स्ना

को

हृदयगत द्युतिस्पर्श से ही
अब जीना है

तुं मानवोनी मनोमृत्तिकामां
स्वप्नो केरां बावलो बी अनेरां.

# प्रस्तुति

[प्रथम सस्करण से]

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रवर्तित माहित्य-पुरम्कार से मम्मानित गुजराती काव्यकृति 'निशीथ' हिन्दी रूपान्तरण के माध्यम से कृतिकार श्री उमाशकर जोशी के कृतित्व का समुचित परिचय दे मके, इम दृष्टिसे प्रस्तुत सकलन 'निशीथ एवं अन्य कविताएँ' शीर्षक से हिन्दी के पाठको को समर्पित करते हुए हमे विशेष प्रसन्नता हो रही है।

२० दिसम्बर १९६८ को दिल्ली के विज्ञान-भवन मे आयोजित पुरस्कार समर्पण समारोह के कार्यक्रम का विशिष्ट अग है, इस कृति का ग्रन्थिविमोचन। १९६६ के समारोह के अवसर पर महाकवि जी. शंकर कुरुप की मलायालम काव्यकृति 'ओटक्कुषल' का हिन्दी अनुवाद विमोचित हुआ था और १९६७ के समारोह मे श्री ताराशकर वन्द्योपाध्याय के पुरस्कृत बगला उपन्यास 'गणदेवता' का। ये प्रकाशन जहाँ हमें भारतीय साहित्य के मानदड का, उसकी सर्वोच्च उपलब्धि का, परिचय देते है वहाँ हमे इस बात की भी प्रतीति देते है कि भारतीय साहित्य परिकल्पना मे, प्रभावो की प्रतिक्रिया मे, विषय-वस्तु मे, रसानुभूति में, और यहाँ तक कि, सास्कृतिक-अभिव्यक्ति की वाहक शब्द-सपदा में समग्र रूप से संपृक्त है। भाषाएं विभाजित नही करती, इन तत्त्वो के माध्यम से एक दूसरे को जोड़ती है।

गुजराती में 'निशीथ' का प्रकाशन-वर्ष १९३९ है, किन्तु इस संग्रह की कविताओ का सृजन-काल १९३० से प्रारम्भ होता है। इस युग के राष्ट्रीय चिन्तन ने, अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ की प्रतिक्रिया ने देशकी मनीषा को जिस रूपमें और जिन आयामों में प्रभावित किया है, उसका मार्मिक प्रतिफलन इन कविताओ मे मुखरित हुआ है। इस हिन्दी-सस्करण मे एक पृथक् खड कुछ पूर्व और परवर्ती कविताओं के मकलन का है, ताकि कवि की काव्य-प्रतिभा, शिल्प-विधान, विषयगत वैविध्य और एक ही भाव की बहुरूपी व्यजना का परिचय प्राप्त हो सके।

सन् १९३१ में लिखी 'विश्वशान्ति' कविता की केन्द्रीय कवि-दृष्टि, कि शान्ति केवल अहिंसा के मार्ग से प्राप्त हो सकती है, 'निशीथ' में अधिक स्पष्टता के साथ परिभाषित हुई है।

श्री उमाशंकर की भाव-चेतना बाह्य जगत से रूपायित होती है और वह

समकालीन स्थिति-बोध से अन्तःसंपृक्त है। आदर्श और यथार्थ के बीच अद्भुत रूप से सन्तुलित उनका काव्य, परम्परागत गीतात्मकता और निरी आशावादिता की सीमा से ऊपर उठकर मानव-वेदना के उदात्त शिखरों पर आरोहण करता है। यद्यपि उनके काव्य का मूल उत्स हमारी परम्परा में परिनिष्ठित है और यह उनके मूल्यों से समृद्ध है, किन्तु सर्जनात्मक और समीक्षात्मक प्रज्ञा के अद्भुत तादात्म्य के कारण यह वास्तविक अर्थों में आधुनिक है।

प्रो० विष्णुप्रसाद त्रिवेदी के शब्दों में 'सुकुमार हृदय, तेजस्वी बुद्धि, समर्थ कल्पना उच्चस्तरीय चिन्तन और समृद्ध व्यक्तित्व का परिचय 'निशीथ' में व्यक्त है।'

'निशीथ में संकलित कवि की एक विशिष्ट रचना है, 'आत्मानां खंडेर'। यह १७ चतुष्पदियों की एक शृंखलित इकाई है, जो इस संग्रह की सर्वोत्तम रचना भी है। इसमें कवि ने एक ऐसे युवक की शोक-करुण अनुभूति को वाणी दी है जो विश्वविजय की साध लेकर आया, पर उसके खंडहर देखने को बाध्य होता है। कविता की अन्तिम पंक्तियाँ उमाशकर की सबसे सुन्दर पंक्तियाँ हैं; शायद गुजराती भाषा की सबसे सुन्दर पंक्तियों में से :

"असुख नहीं दमते मुझे, जितने कि वितथ सौख्य चुभते,
नहीं रुचते सुख, जैसे रुचते समझ में उतरे दुःख,
यथार्थ ही सुपथ्य एक, समझते रहना होगा जो शक्य,
अनजान रमना क्या ? यातना के मोल भी समझना ही इष्ट।"

निःसन्देह, अनुवाद की अपनी सीमाएँ हैं। यह विशेष रूप से तब स्पष्ट हो जाता है जब बायें पृष्ठ पर देवनागरी लिपि में उद्धृत मूल गुजराती कविता से मिलान करते हैं। कवि की कई उत्तम गीत-रचनाएँ तो अनुवादकों को छोड़ देनी पडीं ! छन्द की लय, प्रास की माधुरी और भावों की क्षेत्रीय व्यंजना अनुवाद में लाना कैसे संभव हो ? फिर भी श्री रघुवीर चौधरी और श्री भोलाभाई पटेल ने प्रत्येक कविता की भाव-संपदा को संप्रेषित करने और अनुवाद को एक गद्यात्मक लय देने का पूरा प्रयत्न किया है। संग्रह की प्रथम कविता 'निशीथ' को, श्रीमती मदालसा श्रीमन्नारायण द्वारा प्रस्तुत प्रारूप के आधार पर अन्तिम रूप देने का सुख मुझे इन बन्धुओं के सहयोग से प्राप्त हुआ। 'निशीथ' की अन्य कविताओं को अनुवाद के माध्यम से समझने और संशोधन सुझाव आदि के विनियम का संतोष भी मुझे उमाशंकर भाई के साथ कुछ दिन रहकर प्राप्त हुआ है !

डॉ. प्रभाकर माचवे ने 'स्वर्गीय बड़ेभाई', 'पांचाली' तथा अन्त रचनाओं का अनुवाद भेजकर कार्य में शीघ्रता लाने में स्तुत्य सहयोग दिया है। दोनों अनुवादक डॉ. रामदरश मिश्र के साथ बैठकर अनुवाद की पाण्डुलिपि पढ़ चुके हैं। डॉ.

रणधीर उपाध्याय से भी उन्हें इस प्रकार का सहयोग प्राप्त हुआ है। इन तीनों विद्वानों के प्रति मैं कृतज्ञता का भाव व्यक्त करता हूँ।

पुरस्कार-समर्पण समारोह के अवसर पर ही ज्ञानपीठ श्री उमाशंकर जोशी की दो अन्यकृतियों का अनुवाद भी प्रकाशित कर रही है—'प्राचीना' एवं 'श्री अने सौरभ' का। 'प्राचीना' में कवि की सात पद्य-नाट्यात्मक रचनाएँ 'कर्ण-कृष्ण', '१६वें दिन का प्रभात', 'गांधारी', 'बाल राहुल', 'रतिमदन', 'आशंका' और 'कुब्जा' संकलित है। गुजराती काव्य-साहित्य में इस कृति का विशिष्ट स्थान है। 'श्री और सौरभ' निबन्ध-संग्रह उमाशंकर जोशी के उस चिन्तक, समीक्षक और अध्येता व्यक्तित्व से आह्लाद कारक परिचय कराता है जिसने प्राचीन भारतीय साहित्य की प्रभूत काव्य-ऋद्धि को, उसकी अन्तर्दृष्टि को; जिज्ञासु की उत्सुकता से समझा है, मनीषी की दृष्टि से परखा है और कवि की भावानुभूति से संप्रेषित किया है।

कवि की सर्जनशील प्रतिभा ने साहित्य की विविध विधाओं: नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, साहित्यिक आलोचना आदि के माध्यम से आत्मसिद्धि प्राप्त की है। उदात्त भव्यता उनकी रचनाओं का मूल निःश्वास है और व्यक्ति तथा उसका कृतित्व सदा एकात्म है!

—लक्ष्मीचन्द्र जैन<br>
भारतीय ज्ञानपीठ

# कविता : आत्मा की मातृभाषा

कॉलेज का मेरा पहला बरस था। दिवाली की छुट्टियाँ शुरू होते ही पंद्रह रुपए मँगनी पर लेकर हम तीन मित्र अहमदाबाद से आबू जाने के लिए गाड़ी में बैठे। गाड़ी से आबूरोड तो पहुँचे, पर फिर पहाड़ चढ़े, चल कर, उतरे और वतन का सौ मील जितना डूँगरमाला से गुज़रता निकट मार्ग भी पैदल ही काटा।

मूल में मैं डूँगरों का। उत्तर गुजरात के मेरे गाँव में मेरे घर के पीछे ही डूँगर है। परन्तु अर्बुदगिरि का अनुभव मुझे प्रकृति-प्रेम में लहराता ही रहा। शरद पूर्णिमा की रात्रि थी। काव्यदीक्षा के लिए तरसते तरुण चित्त को अर्बुदगिरि की पर्वतश्री ने शरद पूर्णिमा के प्रफुल्ल आलोक में धन्य मन्त्र दिया :

सौन्दर्यो पी . उरझरण गाशे पछी आपमेळे.

—हम पहाड मुँह खोल कर पानी पीते दिखाई नहीं देते, हम पर पानी पड़ते ही लुढक जाना दीखता है, फिर भी चुपचाप हम अपने भीतर उसे संगृहीत कर लेते हैं। भीतर पानी का पर्याप्त संचय हुआ कि फिर चाहे शिलाएँ कैसी भी क्यों न हों, उनके द्वार तोड़ कर निर्झर अपने आप बाहर फूट आता है। मानों हमारा—कठोर पर्वतों का हृदय ही गान लग गया हो! विश्व में सौन्दर्य की सतत धारा-वर्षा हो रही है। तूने यदि उसे भीतर उतारा होगा तो फिर तेरा उरनिर्झर अपने आप गाने लग जाएगा।

उस समय काव्यजीवन का आरंभ करने के लिए यह मन्त्र पर्याप्त था।

गुजरात कॉलेज की पत्रिका में वह कविता छपी। उस समय मैं संस्कृत में भी रचनाएँ किया करता। इस राह पर चढ़ गया इण्टर के वर्ग में, संस्कृत के अध्यापक ने कीट्स की 'ला बेल दाम सॉं मेर्सी' की दो कड़ियों का अनुवाद कर लाने के लिए कहा, इस परसे। अनुवाद करते समय संस्कृत भाषा की भरपूर साधनसज्जा (resourcefulness) का मुझे अनुभव हुआ।

लम्बालकां लघुगतिं ललितां स्थलीषु
उन्मत्तचारुदृशमीक्षितवान् सुबालाम्।

तत्कण्ठभूषणमहं कृतवांश्च मालां
काञ्ची च सौरभवहामपि कंकण च ।।
बद्धभावेव मय्येषा दृष्टि चिक्षेप कामिनी ।
ततो दीर्घ च निःश्वस्य मुग्धैषा चित्रवत् स्थिता ।।

अंतिम चरण मैंने जोडा था। बाद मे 'तत्रापश्यं गिरिपथचरस्त्वां भ्रमन्ती सुखेन'—इन शब्दो से आरंभ होता साबरमती से उद्बोधन, 'सुधाऽऽस्वाद यत्ते स्मितं नाहं याचे, तदभिलषिताः सन्तु बहवः।···'—ये प्रणयोद्गार, आदि स्वतंत्र संस्कृत रचनाएँ भी कॉलेज-पत्रिका मे प्रकाशित हुई।

इतने मे १९३० की सत्याग्रह की लडाई शुरू हुई। कच्चे जेल मे था, तब वहाँ से एक कविमित्र को भेजी हुई रचनाएँ, कुछ महिनों के बाद जेल से बाहर आया उसके पूर्व ही, अग्रगण्य मासिक-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुई थी। सूरत मे एक समारंभ मे एक कृति को नृत्यके साथ प्रस्तुत करने वाली बालिका का चित्र भी एक अक मे प्रकाशित हो चुका था। आरभ था—

हु गुलाम ?
सृष्टि बागनु अमूल फूल मानवी गुलाम ?

(मैं गुलाम ? सृष्टि के उपवन का अमूल्य पुष्प मनुष्य गुलाम ?)

हृदय-चित्त पर राष्ट्रीयता की भावना ने अधिकार कर लिया था।

उस समय केवल राष्ट्रीयता का ही आकर्षण था ? या राष्ट्रीय लडाई के नेपथ्य मे रही किसी व्यापक भावना का भी आकर्षण था ?

१९३०में जेल में एक अनुभव हुआ। आबू पर प्राप्त अनुभव जिस तरह काव्यजीवन की दीक्षा देने वाला था, यह जीवन समग्र की दीक्षा में प्रेरित करने-वाला था।

साबरमती जेल मे मैं साथियों से बिछुड़ कर एक के बाद दूसरी बैरक मे हटाया जाता था। ऐसे में सितारों की लगन लगी। मुझे हँसी आती कि बाहर खुले आसमान के नीचे था तब कभी तारों का ऐसा आकर्षण न जगा, अब यहाँ बंद होने की बारी आई तब ये दूर दूर से टिमटिमा कर मुझे बिलखाते है। बैरक का एक छोर उत्तर की ओर था। वहाँ खिडकी के पास खडा मैं सप्तर्षि की ओर ताका करता। उनको छोडकर और तारों को मै पहचानता भी नही रहा हूँगा।

उसी समय श्री शंकर दीक्षित की खगोल-विषयक मराठी पुस्तक 'ज्योति-विलास' का अनुवाद मैने पढ़ा। तुकाराम के अभगों का तथा टॉमस ए. केम्पिस के ईसा-अनुसरण की पुस्तक का परिचय भी चल रहा था। राष्ट्रप्रेम की विराट तरंग पर तो हम सब उठाए हुए थे ही, उसमें ये रग भी आ मिले। उस समय हररोज सुबह जल्द उठकर दीवार से जरा दूर—उससे बिना टिके—बैठने की आदत डाली

थीं। एक दिन अलख सुबह में सर पर जैसे कोई अगोचर स्पर्श हुआ हो और उसके वेग के तले दब कर मेरा सारा अस्तित्व मानो पृथ्वी की सतह के साथ समरेख हो गया हो ऐसा अनुभव हुआ। मानो आत्मविलोपन का—प्रकाशभरे आत्मविलोपन-का भाव उमड़ता रहा। शून्यता का नहीं—सभरता का यह अनुभव था।

इस अनुभव की छाया में मुझे एक नाटक सूझा। उसमें नक्षत्र-ग्रह पात्रों के रूप में थे। स्वयं काल भी एक पात्र था। सनातनता के बागे सज कर काल प्रवेश करता है, और अपनी महत्त्वाकांक्षा प्रकट करता है—जो सारे नाटक में बीजरूप है। कहता है कि सृष्टि में सौन्दर्य को प्रस्थापित करने में तो मैं कुछ सफल हुआ हूँ—

तेजने पूर्यु तारलिये,
दीध परिमलने फूलवेश.
विश्वने आंगण वेरवा मारे
प्रेम-भीना संदेश.

(तेज को तारकों मे रूपान्वित किया, सौरभ को पुष्प की सज्जा दी। विश्व के आँगन में मुझे बिखेरने हैं प्रेमभीगे सन्देश।)

अब विश्व में प्रेमतत्त्व को वह प्रतिष्ठित देख पाए कि बस ! इस नाटक के दूसरे अंक में मानव जाति के इतिहास के मुख्य क्षणों को स्पर्श करने का सोचा था। सारा प्रयत्न मानवजीवनमें संवादिता की शक्यताएँ खोजने-जाँचने का और प्रेम-धर्म की महिमा गाने का था।

कहने की जरूरत नहीं है कि उस समय ऐसा नाटक लिखने की स्थिति में मैं नहीं था। कुछ अंश लिखे थे, बस वे ही। परन्तु इससे मुझे एक बड़ा लाभ यह पहुँचा कि नाटक लिखने की—कवि होने की—तैयारी कर रहा हूँ ऐसा भाव ही अनुगामी वर्षों में सतत बना रहा। कृति लिखने की सज्जता के लिए शिक्षा का एक पूरा अभ्यासक्रम मुझे अनायास मिल गया। यह काव्यकृति सूझी उसके बाद भले ही इसकी रचना पूरी न हुई, किन्तु उसमें से अन्य अनेक छोटी-बड़ी कृतियों-का उद्भव हुआ है। आत्म-विलोपन का वह परम आह्लादकारी अनुभव, विश्व-से—मानव जाति से—राष्ट्र से तादात्म्य का अनुभव करने मे बार बार प्रेरित किया करता है।

शोधीश मां मावडी खोवायो बाळ रे
खोवायो धरतीने आंगणे.
खंड खंड लोकवृंद टोळे ऊमटियां ने
मळियो आ मानवीनो मेळो रे,

खोळीश मां धरतीने ख्होले रे खोळले
हुं जो भळी जाऊं भेळो—
हो मावडी, खोवायो धरतीने आंगणे।

(हे माँ, मत खोजना अपने बाल को, खो गया है वह इस धरती के ही आँगन में। खंड खंड में लोकवृन्द एक साथ उमड़ आए हैं। और लगा है मनुष्यों का यह मेला। मत खोजना, धरती की विशाल गोद में जो मिल जाऊँगा सबके साथ। हे माँ, मैं तो खो गया हूँ धरती के आँगन में।)

'रखडुनुं गीत' (यायावर का गीत) उपर्युक्त शब्दों से उभरता है, और 'विश्वमानवी' (विश्वमानव) इन पंक्तियों में विरमता है:

व्यक्ति मटीने बनुं विश्वमामवी,
माथे धरूं धूल वसुन्धरानी.

(मिट कर व्यक्ति बनूँ विश्वमानव; सर पर धारण करूं वसुन्धरा की धूल।)

बाद में 'सिवान के पत्थर पर' और 'विराट प्रणय' में भी तादात्म्य का भाव ही अलग अलग रीति से झाँक जाता है।

साबरमती जेल में प्राप्त अनुभव का काव्य तो स्वयं रचा न गया, परन्तु वह काव्यसर्जन के एक अंत:स्रोत के रूप में अनुभूति देता रहा। अनुभूति शब्द प्रयुक्त करता हूँ तब मुझे खयाल है कि कोई इसे चाहे तो भ्रान्ति भी कह सकता है, पर जहाँ तक कवितासर्जन का सम्बन्ध है, भ्रान्ति भी एक हक़ीकत सी ही परिणामकारक सिद्ध हो सकता है, यह इस मिसाल से देखा जा सकेगा।

१९३१ में गांधी-इरविन समझौते के समय में मैं कॉलेज में वापिस न गया। फिर से लड़ाई आ रही है, इस अपेक्षा से गांधीजी द्वारा स्थापित गुजरात विद्यापीठ में जाकर आचार्य श्री काकासाहब कालेलकर के साथ रहा। वहाँ उस नाटक की तैयारी के लिए स्वाध्याय का आरंभ किया। एक दृश्य 'युधिष्ठिर का युद्ध-विषाद' का मसौदा भी बना लिया। पर इस तैयारी के एक आकस्मिक अंकुर के रूप में 'विश्वशांति' खण्डकाव्य लिखा गया—पाँच दिन में। गांधीजी के विभूतिमत्त्व के परिवेश में यह काव्य चलता है। गोलमेज परिषद में जाना लगभग स्थगित कर दिया गया था और वे विद्यापीठ में आकर कुछ दिन रहे थे, सुबह में प्रार्थनाप्रवचन के दरमियान उनका सान्निध्य भरपूर मिलता। 'विश्वशांति' समिष्टि में समरस होने की अभीप्सा को साकार करने का प्रयत्न है। यह काव्य गांधीजी द्वारा स्थापित नवजीवन प्रेस से प्रकाशित हुआ। इसका जो स्वागत हुआ उसमें प्रकाशन-संस्था का योगदान भी कम नहीं रहा होगा। परंतु यह छोटी-

सी काव्य-पुस्तिका गांधीजी को पहुँचाने की हिम्मत मैं कर न पाया।

काव्यदीक्षा सौन्दर्य की, जीवन दीक्षा प्रेम की—यों मनमें उग आना एक बात है, जीए जाते जीवन में प्रतिपल उसका अनुभव-वस्तु बनना और बात है। १९३२ में जेल मे 'गंगोत्री' संग्रह की कुछ कविताएँ और 'सापना भारा' एकांकी संग्रह के पहले पाँच नाटक लेकर बाहर आया, जिन पर सामाजिक एवं वैयक्तिक विसंवाद की छायाएँ अंकित हैं। गांधीजी की प्रेरणासे जेलों में ब्रिटिश सरकार का आतिथ्य चखते युवक समाजवाद की भावना से रंगे जा रहे थे। 'गंगोत्री' में 'भूखे जनों की जठराग्नि जगेगी' यह उद्घोष और 'निशीथ' में 'बेंक पासेनुं झाड' (बैंक के नज़दीक का पेड) तथा 'पांचाली' जैसी कृतियाँ इस भावना के जीवंत प्रभाव मे है।

तीसरे दशक के बाद लगभग सभी गूजराती नवलेखक इस भावना से बहुत कुछ प्रभावित हुए, पाँच वर्ष के बाद 'प्रगतिवाद' के पुरस्कर्ता भी बने, परंतु 'साहित्य अने प्रगति' नामक दो लेखसंचय प्रकाशित करके चोथे दशक के अंत तक तो सबने प्रगतिवाद पर अधिकृत रूप से पर्दा गिरा कर आंदोलन को समेट लिया। दूसरे विश्वयुद्ध के वक़्त साम्यवादियों की प्रमाणभूत पक्षीय नीति ने हमारे क़दम को सही सिद्ध किया। पक्षवाद में फँसने से हम बच गए, पर समाजवाद की मूल प्रेरणा—सामाजिक न्याय की माग—किसी न किसी रूप में हमसे लगी ही रही।' ४० के नवकवियों में सौन्दर्याभिमुखता प्रकट हुई, परंतु उसके लाभों के साथ, ५० के बाद प्रवेश करने नवकवियों की कविता में पुनःसमाजसंदर्भ का परिमाण बिम्ब, प्रतीक द्वारा आ मिलता है। इसके अनंतर मानवनियति की, खास करके आधुनिक समग्र के दबाव के बीच कवि जैसे संवेदनशील व्यक्ति को मनुष्य की गति-स्थिति की कैसी झांकी होनी है इसकी सम्प्रज्ञता (Awareness) कविता द्वारा मूर्त होना चाहती है। 'छिन्नभिन्न हूँ' (१९५६) और 'शोध' (१९५९) रचनाएँ मेरे इस दिशा के प्रयत्न है।

विश्वशांति से वैयक्तिक अशांति के अनुभव की विपरीत गति हमारे युग के सर्जकों के लिए निर्मित हो चुकी थी—अनिवार्य रूप से—ऐसा भी कहा जा सकता है। यह भावनाओं का पीछे हटना नहीं है, अनुभूत यथार्थ का स्वीकार है। इस स्वीकार के बावजूद भी विश्वशांति की अभीप्सा मिटने वाली नहीं थी, बल्कि धीरे धीरे वैयक्तिक अशांति और विश्वशांति दोनों अलग अलग न दीख कर परस्पर ओतप्रोत प्रतीत होनेवाली थीं।

'निशीथ' में जो 'देश-निर्वासित-सा' नामक कृति है उसे मूल अंग्रेजी में लिखा था :

I wonder how this little soul
Was smuggled into life,
Not that I dread the fact of being
That men misname as strife.
From birth to death the mortals roam,
I seek the way from deaih to birth.
I have wandered and will wander still
An exile on this earth.*

परन्तु वैयक्तिक चेतना की बात को पूर्ण रूप से अंक में भरने का प्रयत्न 'निशीथ' की सॉनेटमाला 'आत्मा के खण्डहर' मे होता है। इस सॉनेटमाला का महदश मैंने बम्बई मे तीन दिनो में लिखा, उन दिनों मैं बी.ए. में भारतीय बेकिग का अध्ययन कर रहा था 'निशीथ' की प्रमुख रचनाएँ वही लिखी गई, वे बम्बई के जीवनके सूक्ष्म प्रभाव से अकित है। खुद 'निशीथ' रचना का जन्म बम्बई की लोकल ट्रेन में, रात को उपनगर लौटते समय कविश्री मेघाणी की मेरे नाम लिखी गई चिट्ठी के कोरे हिस्से पर कुछ पक्तियो के रूप मे, हुआ था। इसमे छद वैदिक-सा प्रयुक्त करने पर भी लोकल ट्रेन के गति-आदोलन प्रवेश पा चुके है।

'निशीथ'की कविताओं की भूमिका पूर्व लिखित कृतियाँ 'विश्वशांति' और 'गंगोत्री' से कटी हुई तो नहीं है। एक मुख्य तंतु है 'विश्वशांति' के पहले और पाँचवें-छठे खंड से संलग्न। मानव-नियति विषयक यह तंतु 'निशीथ' में, 'विराट प्रणय' में तथा 'आत्मा के खण्डहर' में—तीनों में भिन्न भिन्न रीति से प्रतीत होता है। कवि के ख़याल से 'मगल शब्द' के पूर्वार्ध मे वैश्विक चित्रण का जो आकर्षण है वह 'निशीथ' कविता मे पूर्णतया व्यक्त हुआ है। 'विश्वशाति' के तीसरे खण्ड में झाँकते इतिहासप्रेम को 'विराट प्रणय' में अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है।

दूसरा तंतु है प्रणय कविता का। 'गंगोत्री' में 'अकेले या साथ में' आदि मौग्ध्य-उद्गार 'रहनुमा बिना' रचना में भावना-संकेत, 'मुखर कन्दरा' जैसी रचनाओं मे अपरीक्षित, अननुभूत तथापि विश्वस्त उच्चारण—इन सबके बाद अब विवाहोत्तर कृतियाँ मिलती हैं। मेरे एक मित्रने तो कह भी दिया—'विवाहोत्तर कृतियों को प्रणयकविता कौन कहे ?'

---

* १९३४ में अंग्रेजी में ऐसे कुछ प्रयत्न किए थे। उस समय बम्बई मे रहते श्री हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय से मेरा सम्बन्ध था। उन्होंने ये कृतियाँ प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की थी, लेकिन मैंने बात को आगे बढ़ने नहीं दिया।

तीसरा एक तंतु मृत्यु-विषयक संवेदन का है : 'एक बच्ची को श्मशान ले जाते हुए' के बाद 'पिताके फूल' तथा 'स्वींय बड़े भाई' कृतियाँ मिलती हैं।

चौथा तंतु जीवन की वास्तविकताओं का है, जिनमें केवल विपमताओं के ही नहीं, किन्तु जगत-जीवन के विशाल फलक पर की, दृष्टि की व्याप्ति से बाहर रह गई, निपट वस्तुस्थितियों के कुछ अंश अनुभूति-विषय बनते है।

पाँचवा तंतु—बल्कि उसे पाँचवाँ न कहें; यहाँ उपर्युक्त चारों तंतु समवेत हो कर अनुभूति का रूप लेकर स्फुट होना चाहते हों ऐसा लगता है। मेरे लिए तो यह जीवन का, कमसे कम कवि-जीवन का शायद मुख्य भाग बनता रहा है। यह दिखाई देता है 'आत्मा के खण्डहर' में। विश्वशांति के स्थान पर यहाँ व्यक्ति की अशांति शायद विषय-वस्तु बनती है बुलंद अभीप्सा जीए जाते विविधरंगी जीवन के स्पर्श से पहलदार बनती है। और यथार्थ—निरा यथार्थ, केवल यथार्थ के स्वागत में परिणत होती है। विश्वशांति और वैयक्तिक अशांति विरोधी वस्तुएँ नहीं रह जातीं। दोनों यथार्थ के सेतु से जुड़ जाती है। सॉनेटमाला के अंतभाग में एक प्रकार के सशयवाद, निराशावाद, शून्यवाद (Nihilism), स्वप्न-आदर्श-भावना विपयक पराजयवाद (Defeatism) और आगे चलकर हमें पाश्चात्य साहित्य द्वारा दिखाये गये निःसारवाद (The Absurd), अस्तित्ववाद (Existentialism) के इंगित हैं, किन्तु परिणाम स्वरूप उबर आती है एक प्रकार की कोई आध्यात्मिक अनुभूति। व्यक्ति दबता, झेलता, भंज कर बाहर आता है यथार्थ का स्वागत करते, उसे अपनाते हुए। मुक्त हृदय से, मुक्त चित्त से यथार्थ का निःशेप स्वीकार भी स्वतः एक आध्यात्मिक विजय की भूमिका है।

'अभिज्ञा' (१६६७) में संग्रहीत 'छिन्नभिन्न हूँ' और 'शोध' कृतियाँ आगे बढ़ कर एक पूरा काव्यस्तबक बनें ऐसी परिकल्पना है। इस काव्य-संपुट में वे चारों समवेत तंतु पुनः किस प्रकार प्रत्यक्ष होंगे यह फ़िलहाल मैं ही न जानता होऊँ तो कैसे कह सकूँ? अपने ढंग से वह अलग और अनूठा प्रयत्न होना चाहेगा। मुझे कुछ ऐसा लगता है कि सर्जकचेतना कभी कभी गोल सीढ़ी पर चढ़ती (spiralling) भी देखने को मिलती है।

कहिए कि 'आत्मा के खण्डहर' में जो बाहर देखने को मिला था उसका साक्षात्कार 'छिन्नभिन्न हूँ' में भीतर होना है। 'आत्मा के खण्डहर' सॉनेट के दृढ

पद्यबंद'में साकार हुआ था, यहाँ छंदोलय भिन्न, विक्षिप्त है, बल्कि गुजराती पद्य-रचना के चारों प्रकार और बीच बीच मे गद्यपंक्तियों के द्वारा लय अन्वित होती चलती है। 'छिन्नभिन्न छु' के बाद दूसरी ही पंक्ति-'निश्छंद कवितामां धबकवा करता लय समो' के आरम्भ के तीन शब्द और अंतिम तीन शब्दों के बीच लय हिचक जाती है।

छिन्नभिन्नता के अनुभव की रचना यदि कलाकृति हो पाई तो इतना तो मनुष्य एक-केन्द्र हो पाया है ऐसा कहा जा सकता है। साहित्य का माध्यम शब्द है। बाह्य वास्तविकता को शब्द एकत्व अर्पित करता है, इस अर्थ मे कला स्वयं एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। आज का मुख्य प्रश्न यह है कि यत्र-सस्कृति में मनुष्य जीए कैसे ? केवल जीए नही बल्कि मानवीय गरिमा के साथ जीए। यन्त्र-वैज्ञानिक संस्कृति का पश्चिमी जीवन पर भारी दबाव है और हमारे जीवन पर भी उसका असर न पडना असम्भव है। पश्चिम में भी विज्ञान और टेक्नॉलॉजी की उपलब्धियों के असन्तोष के बीच धर्म की—एक प्रकारकी आध्यात्मिकता की—खोज के चिह्न दिखाई दे रहे है। किन्तु धर्म का मार्ग विज्ञान के सत्यों के बीच से ही गुजरता है। 'डिवाइन कॉमेडी' में इनफरनो (दोजक) और परगेटोरियो (शोधनागार) से होकर ही पेरेडिसो (स्वर्ग) का रास्ता गुजरा है। हमारे देश में भी ऐसे लोग हो सकते है जो इन अनुभवो की आँच में पक रहे हों।

दूसरी कृति 'शोध जीवन के सर्जनात्मक सिद्धान्त की खोज को विषय-वस्तु बनाती है। द्रष्टा जब बिखरे वृक्ष नही देखता, वृक्ष-रचना-मय हो जाता है तब सौन्दर्यानुभूति प्रकट होती है; द्रष्टा और दृश्य के जुदा न रह जाने से केवल सौन्दर्यवस्तु ही प्राकट्य पाती है। यह प्रतीति सहानुभूति के फलक के विस्तरण

---

१. इस शताब्दी के आरंभ में प्रो. बलवन्तराय क. ठाकोर ने संस्कृत वर्णवृत्तों में यतिभंग तथा श्लोकभंग के प्रयोग से प्रवाहिता सिद्ध की और अर्थानुसारी विराम एवं लय के कारण मिल्टन की काव्यकंडिका-सी रचना की सभावनाएँ सूचित की। परिणामस्वरूप गुजराती कवियों ने सस्कृत वृत्तों से जैसे कि 'ब्लैंक वर्स' का काम लिया। खास करके सॉनेट जैसी सघ[illegible]बद्ध रचना के लिए ये छंद कार्यक्षम प्रतीत हुए।

२. 'छिन्नभिन्न छुं' में और 'शोध' में गुजराती भाषा के बोलचाल के लहजे और काकु आदिका विनियोग करके तथा भाषा में स्वरभार का जो कुछ तत्त्व है उसका लाभ उठाकर मैं छंदोमुक्ति की ओर बढ़ा।

मात्र से ही नहीं परन्तु तद्रूपता-समरसता पर आधारित है। पुष्प, शिशुओं का कलहास्य— ये इस कविता के शब्द और छंद हैं। और कन्याओं के आशा-उल्लास हैं। 'मेरी कविता की नसों का रुधिर'। अंततोगत्वा काव्यकीसौन्दर्य दीक्षा और जीवन की प्रेमदीक्षा अलग अलग रह नहीं पातीं। प्रेम और सौन्दर्य एकज्वाल होकर रहते हैं।

अहमदाबाद —उमाशंकर जोशी

१०-१२-१९३८

# क्रम

**'निशीथ' से**

'विश्वशाति' से



गंगोत्री' से

'आतिथ्य' से



'वसंतवर्षा' से

'अभिज्ञा' से

# निशीथ

## एवं अन्य कविताएँ

जोशीजी के निधन के बाद "**निशीथ**" का यह पहला संस्करण है। जोशीजी विख्यात कवि, लेखक मनीषी, गांधीवादी और समाजसेवी तो थे ही किन्तु इससे भी बढ़कर वे एक बहुत बड़े मनुष्य थे--एक ऐसे मनुष्य जो मनुष्यता का प्रतीक बन जाता है। वर्ष 1967 का ज्ञानपीठ पुरस्कार सह-विजेता के रूप मे समर्पित कर भारतीय ज्ञानपीठ गौरवान्वित हुआ था। जोशीजी की काव्य चेतना एक ऐसे दिव्य आलोक से उत्पन्न एवं प्रेरित थी जो पूरी वसुधा को कुटुम्बकम् में परिणत कर देता है। "**निशीथ**" (ज्ञानपीठ पुरस्कार इसी पुस्तक पर समर्पित किया गया था) उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है।

जोशीजी केवल ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता ही नही थे बल्कि प्रारंभ से ही वह भारतीय ज्ञानपीठ से परिवार के एक वरिष्ठ सदस्य के रूप में जुड़ गए थे। प्रवर परिषद के अध्यक्ष एवं सदस्य के रूप में उन्होंने सक्रिय योगदान किया था।

उनका निधन भारतीय साहित्य और विशेषकर भारतीय ज्ञानपीठ के लिए एक अपूर्णीय क्षति है। आशा है, "**निशीथ**" का यह नया संस्करण और भी सुधी पाठकों तक पहुँचेगा।

**1 मई, 1989**

**—बिशन टंडन**
निदेशक
भारतीय ज्ञानपीठ

## 'निशीथ' से

## निशीथ

१

निशीथ हे ! नर्तक रुद्ररम्य !
स्वर्गंगनो सोहत हार कंठे,
कराल झंझा-डमरू बजे करे,
पींछां शीर्षे घूमता धूमकेतु,
तेजोमेघोनी ऊडे दूर पामरी.
हे सृष्टिपाटे नटराज भव्य !
भूगोलार्धे, पायनी ठेक लेतो,
विश्वान्तरोना व्यापतो गर्त ऊंडा.
प्रतिक्षणे जे चक्करार्ता पृथ्वी,
पीठे तेनी पाय माडी छटाथी
ताली लेतो दूरना तारकोथी.
फेलावी बे बाहु, ब्रह्माण्डगोले
वींझाई रहेतो, भ्रमती पृथ्वी साथे.
भमे, सुघूमे चिरकाल नर्तने,
पडे परन्तु पद नो लयोचित
वसुन्धरानी मृदु रंगभोमे,
बजंत ज्यां मन्द्र मृदंग सिन्धुना.

२

पाये तारे पृथ्वी चंपाय मीठु,
स्पर्शे तारे तेजरोमांच द्यौने.
प्रीतिप्रोयां दंपती अंतरे को
विकारवंटोळ मचे तु-हूंफे.

३

निहारिकाना मलिने खेलनारो,
जेनार जे ताग ऊंडा खगोलना,

## निशीथ

### १

हे निशीथ, रुद्ररम्य नर्तक !
कंठ में है शोभित स्वर्गंगा का हार
बजता है कर में झंझा-डमरू
घूमता हुआ धूमकेतु है तेरे शीश का पिच्छ-मुकुट
तेजस्-मेघों के है तेरे दुकूल फहराते दूर,
सृष्टितिलक पर, हे भव्य नटराज !

भूगोलार्ध पर दे रहा पाँव की थाप
व्याप्त करता विश्वान्तर के गहरे गर्त्तों को
प्रतिक्षण घूमती इस पृथ्वी की पीठ पर पाँव रखकर छटा से
ले रहा ताली तू दूरवर्ती तारकों के साथ !
फैलाकर दोनों भूजाएँ ब्रह्माण्ड के गोलार्धों में
हिल्लोल ले रहा घूमती धरा के संग
घूमता ही रहता है चिरन्तन नर्तन मे
रहती है फिर भी पदगति लयोचित
वसुन्धरा की मृदु रंगभूमि पर
बजते है जहाँ मंद मृदंग सिन्धु के !

### २

पैरों से तेरे पृथ्वी दबती है मधुर
स्पर्श से तेरे होता है तेज-रोमांच द्यौ को
प्रीति-पिरोये दम्पती-हृदय में उठता है
आवेग का बवंडर, तेरे स्निग्ध सहारे ।

### ३

खेलता तू नीहारिका-नार में
लेता थाह अथाह खगोल की

रंकांगणे तुं ऊतरे अमारे.
दीठो तने स्वैर घूमंत व्योमे,
अगस्त्यनी झूंपडीए झूकंतो,
के मस्त पेला मृगलुब्ध श्वानने
प्रेरंत व्योमांत सुधी अकेल,
सप्तर्षिनो वा करीने पतंग
चगावी रहेता प्रवशुं रमतो,
पुनर्वसुनी लई होडली जरी
नौकाविहारे उरने रिझावतो,
के देवयानी महीं जै झूलंतो,
दीठेल हेमंत महीं वळी, मघा
तणुं लई दातरडुं निरंतर
श्रमे नभक्षेत्र तणा सुपक्व
तारागणो-धान्यकणो लणंतो,
ने वर्षामां लेटतो अभ्र ओढी.
हे रूपोमां राचता नव्य योगी !

४

निशीथ हे ! शातमना तपस्वी !
तजी अविश्रांत विराट तांडवो
कदीक तो आसन वाळी बेसतो
हिमाद्रि जेवी दृढ तुं पलांठीए.
उत्क्रांतिनी धूणी धखे झळांझळां,
उडुस्फुलिंगो ऊडता दिगंतमां;
त्यां चिंतवे सृष्टिरहस्य ऊंडां
अमासअंधारतले निगूढ तु.
अने अमे मानव मंद चेतवी
दीवो तने ज्यां करीए निहाळवा,
जृम्भाविकास्युं मुख जोई चंड
तारुं, दृगोथी रहोए ज वींटी
नानी अमारी घरदीवडीने,

तू उतरता हमारे रंक-आँगन में।
देखा तुझे स्वच्छन्द विहरते व्योम में
उझकते झोंपड़ी में अगस्त्य की
या खदेड़ते व्योमान्त तक अकेले
उस मृग-लुब्ध श्वान को,

या देखा खेलते ध्रुव के साथ
जो सप्तर्षि को चढ़ाता है ऊँचा पतंग-सा,
या लेकर पुनर्वसु की नाव
रिझाते हुए उर को तनिक नौका-विहार से,
या झूलते हुए देवयानी में जाकर,
तुझ देख पाया हेमन्त में
मघा का हँसिया लिये निरन्तर
नभक्षेत्र के सुपक्व तारक-धानकणों को
मेहनत से पाटते,
और देखा वर्षा में लेटे अभ्र ओढ़कर।
रूपों-रूपों में रमते, हे नव्य योगी!

४

हे निशीथ, हे शान्तमना तपस्वी!
तजकर अविश्रान्त विराग ताण्डव
बैठ जाता है तू कभी आसन लगा
हिमाद्रि-सी दृढ़ पालती जमाकर।
धू-धू जलती धूनी उत्क्रान्ति की
दिगन्त में उड़ते उडु-स्फुलिंग
वहाँ निगूढ़ अमा-तमान्तर में
करता तू गहन सृष्टि-रहस्य-चिन्तन।
और जैसे ही हम मानव, जलाकर मन्द दीप
निकलते हैं निरखने तुझे
देखकर जृंभाविकसित चंडमुख तेरा
दृगों से घेर लेते हैं अपनी नन्हीं-सी गृहदीपिका को

ने भूलवाने मथीए खीलेलुं
स्वरूप तारुं शिवरुद्र   व्योमे.

५

संन्यासी हे ऊर्ध्वमूर्धा अघोर !
अंधार अर्चेल कपोलभाले,
डिले चोळी कौमुदीश्वेत भस्म.
कमंडलु बंकिम अष्टमीनुं
के पूर्णिमाना छलकंत चंद्रनुं.
करे रसप्रोक्षण चोदिशे, जे
स्वयं चरे निःस्पृह आत्मलीन,
द्वारे द्वारे ढूकतो भेखधारी.
प्रसुप्त कोई प्रणयी युगोनां
उन्निद्र हैयाकमलो विशे मीठो
फोरावतो चेतननो पराग.
स्वयं सुनिश्चंचल, अन्य केरा
राचे करी अंतर मत्त चंचल.
खेलन्दा हे शांत तांडवोना !

६

मारा देशे शाश्वती शर्वरी कशी !
निद्राघेरां लोचनो लोक केरां
मूर्छाछायां भोळुडां लोकहैयां,
तें सर्व त्वन्नीरव नृत्य-ताले
न जागशे, द्यौनट हे विराट ?
मारे चित्ते मृत्युघेरी तमिस्रा,
रक्तस्रोते दास्यदुर्भेद्य तंद्रा.
पदप्रघाते तव, हे महानट,
न तूटशे शुं उरना विषाद ए ?

और करते हैं प्रयत्न भूल जाने का
व्योम में खिला तेरा रुद्र रूप !

५

हे संन्यासी, उर्ध्वमूर्धा अघोर !
अर्चित है अन्धकार तेरे कपोल-भाल पर
अंगों पर लेपी है कौमुदी-श्वेत भस्म ।
लेकर कमंडलु बंकिम अष्टमी का
या पूर्णिमा के छलकते चन्द्रमा का
छिड़कता है रस चतुर्दिक्
तू जो विचरता है स्वयं निस्पृह आत्मलीन,
घूमघूम कर ठाकता है द्वार-द्वार पर भेखधारी ।
प्रसुप्त किसी प्रणयी युगल के
उन्निद्र हृत्कमलों में मधुरतम महकाता है
चेतना का पराग;
कर के मत्त चचल दूसरों के हृदय
स्वयं रहकर निश्चचल
पाता है प्रमोद,
हे शान्त ताण्डवों के खिलाडी !

६

कैसी यह मेरे देश में शाश्वत शर्वरी ?
निद्राच्छन्न जन-जन के लोचन
मूर्च्छाग्रस्त भोलेभाले हृदय लोगों के
जानेंगे न क्या ये सब तेरो नृत्यताल से ?
द्यौनट, हे विराट् !
मेरे चित्त में घिरी मृत्युमय तमिस्रा
रक्त-स्रोत में दास्य-दुर्भेद्य तन्द्रा ।
चूर चूर होंगे न क्या हृदय के ये विषाद
पाद-प्रघात गे तेरे, हे महानट !

ताले ताले नृत्यना रक्तव्हेणे
संगीत आंहीं शुं नहीं स्फुरे नवां ?

श्रान्तोने तुं चेतना दे, प्रफुल्ल
शोभावतो तुं प्रकृतिप्रियाने,
ने मानवोनी मनोमृत्तिकामां
स्वप्नो केरां वावतो बी अनेरां.

तुं सृष्टिनी नित्यनवीन आशा।
न आटलुं तुंथी थशे ? कहे, कहे,
निशीथ, वैतालिक हे उषाना !

[सप्टेम्बर, १९३८]

स्फुरित नहीं होंगे क्या धमनियों में
नये संगीत, नृत्य की ताल पर ?

देता है चेतना श्रान्तों को तू
प्रफुल्ल कर शोभित करता है प्रकृति-प्रिया को
और मानवों की मनोमृत्तिका में बो रहा तू
स्वप्नों के बीज अनूठे ।

तू है सृष्टि की नित-नवीन आशा !
इतना न होगा क्या तुझसे ?
बोल, बोल,
निशीथ ! वैतालिक हे उषा के !

[सितम्बर १९३८]

## ઑરતા

ક્ષણો ઝડપવી અગણ્ય ક્ષણમાંથી એકાદ બે,
અને સમયના અનંત ટહુકાર એમાં ફૂંકી,
સ્ફુરાવવી જગે; કહી : અમર આ અમારાં જુઓ
લસે કવન ! રે ખરે જ ક વજિન્દગી એ જ શું ?

અનેક ક્ષણપુંજ જિન્દગી તણા મહીંથી ક્ષણો
નિજાનુભવ દિવ્યની જડી કંઈ ગણીગાંઠી તે
કરી શબદના અપૂર્ણ અધૂરા રૂપે વ્યક્ત, શું
ગણી જ ઇતિ લેવી જિન્દગી તણી ? ચિરાયુય એ ?

અતાગ અવકાશમાં અણુ શી અલ્પ આ પૃથ્વીનાં
સ્ફુરે શ્વસન ચાર, અંતવિણ આ મહાકાલમાં.
તહીં નહિ-સમા અરે મનુજનું કવ્યું-ના-કવ્યું
કહી, કવણ કાળ, આ પૃથિવીની જ રાખોડી જ્યાં
સમગ્ર ઇતિહાસ પે ઊડી પિછોડી આચ્છાદશે ?

છતાંય, ઉર ગાઈ લે,
રહી જશે રખે ઑરતા !

[નવમ્બર ૧૯૩૩

## अरमान

अगण्य क्षणों में से एकाध को पकड़
समय की अनंत कुहुकिकाएँ उनमें फूक कर
स्फुरित कर जग में, कहते है :
'हमारे ये अमर सुशोभित काव्य !'
अरे, सचमुच यही क्या कवि ज़िन्दगी ?

जीवन के है अनेक क्षणपुंज,
दिव्य निजानुभव के क्षण तो है कुछ इनेगिने ही,
कर व्यक्त उन्हें शब्द के अपूर्ण अधूरे रूप में,
जीवन की इति मान ली जाये क्या ?
यही है चिरायु ?

अथाह महाकाश में, अन्तहीन इस महाकाल में
अणु-सी अल्प इस पृथ्वी के स्फुरित होते मास चार
उसमें नगण्य मनुष्य की
कौ-न-की काव्यसृष्टि कहाँ ?
कब तक वह,
इस पृथ्वी की ही भस्म जहाँ
समग्र इतिहास पर उड़कर चादर चढ़ा देगी ?

फिर भी, हृदय, गा ले
रह न जाये कहीं मन में अरमान !

[नवम्बर १९३३]

# आत्मसंतोष

ना, ना, हवे हृदयनी रडवी व्यथाओ.

जे दे व्यथा जगत ते जगने ज पाछी
गाथा रची कदी न देवी हवे व्यथानी.
—दुःखे दमे, वळतरे दुखगीत एने ?

हैयुं बिचारुं थई एवुं गयुं ज आळुं,
सौ स्पर्शथी ध्रूजी जतुं, करी चीस गीते.
ने चीस गीतमय सुणी, लुभाई, होंसे
स्पर्शी जतुं सहु वळीवळी एहने रे !

मंड्यो ज वज्रनखली लई वर्तमान
आ तंतुमांथी टपकावी जवा स्वरो सौ.
ए लेश पीड, पण, अंतरनी न बूझे.

ने तोय सौ समसमावी वधु ज गावुं !
गावुं. भले विषम हो कदी वर्तमान,
ना छे कसूर कंई आवती पेढीओनी.

[२६-८-१९३३]

## आत्मसंतोष

नही, नही, अब नही है रोनी हृदय की व्यथाएँ

जो जगत् व्यथा देता है उसी जगत् को अब
रचकर गाथाएँ व्यथा की वापस नही देनी है।
दुःख से जो हमें पीड़ित करता है
बदले में उसे दुःखगीत देना क्यो ?

हृदय बेचारा हो गया है ऐसा आर्द्र
सभी स्पर्शा से काँप उठता
करके चीत्कार गीत में।
गीतमय चीख सुनकर
अधिक के लोभ से, उत्साह से
स्पर्श कर जाते है सब कोई पुनः पुनः उसे।
वर्तमान वज्र का मिजराब लेकर डट गया है
इस तंत्री में से सभी स्वर छेड़ने को;
वह नहीं समझता ज़रा भी हृदय की पीड़ा।

फिर भी मन मसासकर खूब गाना !
गाना;
भले ही कभी विषम हो उठे वर्तमान,
किन्तु कोई कसूर नही
अनागत पीढ़ियों का।

[२६-८-१९३३]

## प्रणयीनो रटवा

राते दिने रटी रहुं न जाणु नाम !
भेटी रहुं स्वपनमां न पूरी पिछान !

मांडा पहोर लगी वात कर्या करुं, ने
तोये पूरो तुज हजी वरतुं न साद !
तारी मृदु श्वसननी धडके जीवे आ
हैयुं, न तोय तुज हुंफ शकुं हुं स्पर्शी !
खेंचाउं तारी रगनी नव लोही-ज्योते;
दीठुं नथी हजी पूंठे तुज पोपचांनी !
ने क्यांक कोक दी पछी मळशुं ज ज्यारे
एकान्तमां गुपत गोठडीए डूबंतां,
ज्यारे उरे उर ढळी पूछशे ज छानुं :
'छे ख्याल केवी तु मने रही'ती सतावी ?'
जाणु तू तो कही हसीश, 'बधुंय जाणु !'

आजे शुं किंतु थतुं ते अहीं हुं ज जाणु.

[१९-४-१९३४]

## प्रणयी की रटन

रात दिन रट रहा हूँ !
जानता नहीं नाम !
स्वप्न में देता हूँ आश्लेष,
नहीं है पूरी पहचान !

बहुत देर तक बातें करता रहूँ
और फिर भी
अभी तक पूरी तरह नहीं पहचानता तेरी आवाज़ !
तेरी मीठी साँसों की धड़कनों से
जी रहा है यह हृदय,
फिर भी नहीं स्पर्श कर पा रहा
तेरी ऊष्मा !
खींचा जाता हूँ
तेरी नसों की नवरक्त ज्योति से;
नहीं झाँका है अभी तक तेरी पलकों के पीछे !
और, कहीं किसी दिन फिर मिलेंगे हो जब
एकान्त में डूबेंगे बातों के रस में
जब हृदय हृदय पर ढल कर पूछेगा मूक :
"है ख्याल कैसी तू मुझे रही थी सता ?"
जानता हूँ मैं, तू हँस कर कहेगी—
"सब कुछ जानती हूँ"

किन्तु आज यहाँ क्या हो रहा है
वह तो मैं ही जानता हूँ।

[१६-४-१९३४]

## सखी में कल्पी'ती—

सखी में कल्पी'ती प्रथम कविताना उदय शी,
अजाणा क्यांथीये ऊतरी अणधारी रची जती
उरे ऊर्मिमाला, लयमधुर ने मंजुलरव,
जती तोये हैये चिर मूकी जती मादमदिरा.

सखी में झंखी'ती जलधरधनुष्येथी झूलती,
अदीठी शी मोठी अवनवल रंगोनी लट शी.
प्रतिबिंबे हैये अणुअणु महीं अंकित थती,
स्फुरंती आत्मामां दिनभर शके स्वप्नसुरभि.

सखी में वांछी'ती विरल रसलीलानी प्रतिमा,
स्वयंभू भावोना निलय सरखी कोमलतम,
असेव्यां स्वप्नोना सुमदलरच्या संपुट समी,
जगे मर्दानीमां बढवती ज चित्ते तडित शी.

मळी त्यारे जाण्युं: मनुज मुज शी, पूर्ण पण ना.
छतां कल्प्याथीये मधुरतर हैयांनी रचना.

[१-१२-१९३७]

## कल्पना की थी मैंने सखी की—

कल्पना की थी मैंने सखी की—
कि होगी वह प्रथम कविता के उदय-सी।
अनजान कहीं से आकर यकायक
हृदय में उर्मिमाला, मधुर लय और मंजुल रव की
रचना कर जाती,
और जाने पर भी
हृदय में चिर आनन्द की मदिरा छोड़ जाती।

कामना को थी मैंने सखी की—
इन्द्रधनु से झूलती हुई
अनदेखी-सी मीठी अद्भुत रंगों की लट-सी
प्रतिबिंबित जो हृदय में, अंकित होती थी अणु-अणु में,
दिन भर आत्मा में स्फुरित होती
मानों स्वप्न की सौरभ।

वांछा की थी मैंने सखी की—
स्वयंभू भावों के निलय के समान कोमलतम,
रसलीला की विरल प्रतिमा के रूप में।
न सँजोए सपनों के पुष्पदलों से रचित सम्पुट जैसी,
चित्त में तडित् बनकर
विश्व में मर्दानगी में करती प्रेरित।

जब मिली तब जाना :
मुझ-सी ही हो मानवी,
नहीं पूर्ण भी।
किन्तु कल्पना से भी मधुतर है हृदय की रचना।

[१-१२-१७३७]

## मळी न्होती ज्यारे—

मळो न्होती त्यारे तुज करी हती खोज कशो में ?
भम्यो'तो कान्तारे, कलरव करंतां झरणने
तटे घूम्यो, खद्यो गिरिवर तणो स्कंधपट, ने
द्रुमे डाळे डाळे कीध नजर माळे खग तणा.

मळी न्होती ज्यारे दिवसभरनी जागृति महीं,
मळी'ती स्वप्नोमां मदिल मिलनोनी सुरभिथी,
सुगंधे प्रेरायो दिनभर रह्यो शोध महीं, ने
दिवास्वप्ने झांखी कदीकदी थतां थाक न लह्यो.

मळी अंते स्वप्नो सकल थकीए स्वप्नमय जे.
मळी आशाओनी क्षितिज थकीए पारनी सुधा.
सूनी आयुनौका मुज झूलती'ती अस्थिर जले,
सुकाने जै जोती मळी जगत-झंझानिल महीं.

मळी न्होती त्यारे, प्रिय, जलथले खोजी तुजने.
रहुं शोधी आजे तुज महीं पदार्थो सकल ए.

[२५-११-१९३७]

## जब नहीं मिली थी—

जव नही मिली थी,
तब मैने तेरी कितनी खोज की थी ?
भटकता कान्तारों में
कलकल करते झरनों के तट पर घूमा,
रौंदे गिरिवर के स्कंधपट
और द्रुमों की डाली-डाली पर विहगों के नीड़ों में झाँका।

जब नही मिली थी दिन भर की जागृति में,
मिली थी स्वप्नों में मदिर मिलनों की सुरभि से युक्त।
सुगन्ध से प्रेरित दिन भर खोज में रहा,
दिवास्वप्न में यदाकदा तेरी झाँकी होने से
थकान होने पर भी, मालूम न हुई।

मिली आखिर, सकल स्वप्नों से भी जो स्वप्नमय।
मिली आशाओं के क्षितिज के भी जो पार, वह सुधा।
सूनी आयु-नौका मेरी डोलती थी अस्थिर जल में,
जगत्-झंझानिल में
पतवार को सँभालनेवाली तू मिली।

जब नहीं मिली थी, प्रिये,
जलथल में तुझे खोजा था।
आज मैं खोज रहा हूँ तुझमें वे सभी पदार्थ !

[२५-११-१९३७]

## बे पूर्णिमाओ

अगाध हती पूर्णिमा गरक आत्मसौंदर्यमां,
हतुं शरदनुं प्रसन्न नभ शुभ्र ने निर्मल.
सूतां सरल नींदरे सुभग शृंग अरवल्लीनां.
कहीं कुहरघोष निर्झरणनर्तनोना स्फुर.
तहीं अजीब ल्हेरखी फरको को अगमलोकनी.
खूल्युं हृदय, रोमरोम कविता प्रवेशी वसी.

हती लळती आम्रकुंज, रसमस्त ने कोकिला;
तप्या दिन पूठे हती रजनी रम्य वैशाखनी,
घडेल घनकौमुदीरसथी म्हेकतो मोगरो;
पुरे जरीक जंपिया जटिल लोककोलाहल.
सुगौर अरपेल गोरजसमेनी करवल्लीने
भुलावती तहीं स्फुरी मुखमयंकनी पूर्णिमा.

निरंतर स्मरी रहुं उभय पूर्णिमा ए सखी.
निहाळी कविता तुमां, वळी तनेय कवितामहीं.

[२६-११-१९३७]

## दो पूर्णिमाएँ

पूर्णिमा लीन थी अगाध आत्म-सौन्दर्य में,
शरद का प्रसन्न नभ शुभ्र और निर्मल था।
अरावली के सुभग शृंग निद्रा में निमग्न थे।
कही निर्झर नर्तनों के कुहर घोष स्फुरित होते।
वहाँ
अजीब लहर कोई अगम लोक की आ गई।
खुला हृदय,
आकर रोम रोम में बसी कविता।

झूम रही थी आत्मकुंज,
रसोन्मत्त कोकिला,
तप्त दिन के बाद रात्रि थी रम्य बैशाख की।
घन कौमुदी के रस मे निमित महकता था मोगरा,
नगर मे तनिक शान्त था, जटिल लोक कोलाहल।
गोधूलि वेला की सुगोर करवल्ली को भलाती हुई
मुख-मयक की प्रगट हुई पूर्णिमा।

निरन्तर स्मरण करता हूँ
उभय पूर्णिमाओं को हे सखि,
देख कर कविता तुझमें
और तुझे कविता में।

[२६-११-१९३७]

## क्षमा-याचना

१

करजे प्रिय माफ आटलुं—
कदी बोलावो न लाडथी तने.
बहुं मग्न हुं आज आपणां
लखवामां मिलनो तणी कथा.

२

खमजे सखि आज रे जरी
कदी जो मोकली पत्र ना शकुं,
सखि, आपण-प्रेमनां पदो
रचवामां बस छुं रच्योपच्यो.

३

सहजे प्रिय जिंदगी महीं
नव पायां प्रणयामृतो पूरां.
कवि हुं, जीवतां मथ्यो पूठे
परबा मांडी जवा सुधा तणी

[१७-११-१९३७]

## क्षमा-याचना

१

प्रिये,
माफ़ करना यह
कि कभी दुलार से नहीं पुकारा तुझे।
बहुत व्यस्त मैं आज
अपने दोनों के अनेक मिलनों की कथा लिखने में।

३

सब्र करना, सखि आज ज़रा;
यदि कोई पत्र न भेज सकूँ मैं,
सखि,
हमारे प्रणय के गीत रचने में

३

हूँ पूरा तल्लीन।
सहना प्रिय, ज़िन्दगी में
नहीं पाया प्रणयामृत पूरा।
कवि मैं,
सुधा की प्याऊ पीछे छोड़ जाने के लिए
जीवन में जूझता।

[१७-११-१९३७]

## विराट प्रणय

१

पच्चीशी हजु तो प्हेली पूरी मांड करी न त्यां,
प्रीत आ वसमी क्यांथी मने लागी अभागीने ?
जगना प्रणयोनी ना शीख्यो बाराखडी पूरी,
त्यां तारे प्रेमपाशे रे पड्यो क्यां जगसुन्दरी ?
मानवीमानवीआंखे मननु शोध्यु मानवी,
शोधतां क्यांयथी ते आ नवी को प्रेयसी मळी !
रम्य ने भव्य ए प्रेम, प्रेमी किन्तु अजाण हुं.
हवे एके रडुं छुं ने हसु छु बीजी आंखथी,
निहाळी रहुं बेयथी.

निहाळी रहुं बेयथी अजब मूर्ति नारी सखी
विशाळ पृथिवीपटे तृणपटे मीठे गालीचे
शिलाथी शिर टेकवी सिंहण वन्य उन्मत्त शी!
उघाडी वळी मींचती हरणनेणनुं मार्दव
उरे उझरडा पड्या रूझवती मिसासे, अने
शमावी रही डूसके धडक छातीनी कारमी.
छातीनी कारमी आवी व्यथा शे शमवी शकु ?
अनोखो प्रेम ने आवो जतोये शे करी शकु ?

२

जतोय करी शे शकु प्रणय, जेह मन्वन्तरो
थकी हृदयमां मुगूढ अविराम सेव्यो मुखे.

## विराट प्रणय

१

अभी तो पहली पच्चीसी भी पूरी की—न की,
प्रीत यह कैसी जगी अभागे मुझमें ?
जगत् के प्रेम का पूरा ककहरा भी नही अभी सीखा
कि तेरे प्रेमपाश में
बँध गया कैसे विश्व-सुन्दरी ?
मनुष्य-मनुष्य की आँखो मे खोजा मन का मनुष्य,
खोजते खोजने कहाँ से मिल गई
एक नई प्रेयसी !
रम्य और भव्य यह प्रेम, किन्तु मै अनजान प्रेमी,
अब रोता हूँ एक आँख मे, हँसता दूसरी मे,
देखता हूँ दोनो से ।

देखता हूँ दोनो मे तेरी अद्भुत मूर्ति सखी
विशाल पृथ्वीपट पर,
तृण के मृदु गलोचे पर
शिला पर सिर धर कर, वन्य उन्मत्त सिंहनी-सी
खोलती है, फिर मूँदती है हरिणनेत्रो का मार्दव ।
हृदय मे लगी खरोंचो को पूरती है निश्वासो से
और शान्त करती है सिसकियो से
छाती की तीव्र धडकनो को ।
जिगर की इस भारी व्यथा को
भला शान्त कैसे करूँ ?
और इस अनोखे प्रेम को जाने भी कैसे दूँ ?

२

कैसे जाने दूँ प्रणय जिसको मन्वन्तरों से
हृदय में सुगूढ़, अविराम सँजोया है सुख से !

न जंप, नहि शांति, जे क्षणथी मैत्रिणी संगमां
तने प्रथम जोई मुग्धशिशुका. शी ए जोडली ?

निहाळी द्वयरूपसी अधिकरम्य एकेकथी,
करो गूंथी गळा महीं सुभग एकबीजा तणा
वनेवन विशाळ भूमिपट ट्हेलती स्हेलती;
स्रवंत गुजगोष्ठि ओष्ठ भरपूर विश्रंभथी.
सहेली वळी प्होंची को रूडी वनस्थलीने पटे.
सरोवर सरित् तटे उभय बेसी रहेती तहीं
अबोल चिरकाल, मौननयनोनी लीला वळी
प्रगल्भ पढती नमावी मृदु सामसामां मुखो.
करो कमरवींटता बढवता ज प्राणैक्यने.
कशी विमल दीप्ती प्रकृतिसंगिनी तुं सखी !

हती प्रकृति तो शके नववधू समी मंडिता.
खचेल उडु मंडिले, नयनमां नरी नीलिमा,
अने धवल कंबुकंठ नभगंगस्रग्धारिणी.
सकंप कुचमंडले सलिलपातळी पामरी,
धरी क्षितिजमेखला मुखर सिंधुबुद्बुद्रवे,
पदे झरणझांझरी, डिल वसंतवाघा लचे.
अने सखी तुं तो अदम्य निज प्राणप्रोल्लासना
प्रकर्ष थकी ऊभराती अवहेलती मंडनो
रमंती अनलंकृता अनवगुंठिता भूतले.
हतो उभयने उरे मृदु सुमेळ दैवी ज को.

नहीं चैन, नहीं शांति
जिस क्षण प्रकृति मैत्रिणी के संग
तुझे प्रथम देखा मुग्ध बालिका ।
कैसी यह जोड़ी ?

देखकर द्वय रूपसी अधिक रम्य अन्योन्य से,
गलबहियाँ डाले परस्पर
वन-वन में विशाल भूमिपट घूमती...
चलती है गोपन बात, ओठ भरपूर विश्रंभ से ।
पहुँचती है रम्य वनस्थली पर,
सरोवर-सरिता के तट पर
बैठ रहती दोनों मौन चिरकाल, मूक नयनों की लीला भी
नीचा मुख किये प्रगल्भ पढ़ती हैं
आमने सामने एक दूसरे के ।
कमर को आलिंगित करते हाथ बढ़ाते हैं प्राणैक्य को ।
कैसी विमल शोभित होती है, तू सखी
बन प्रकृति-संगिनी !

प्रकृति तो थी मानो नववधू-सी मंडित ।
नक्षत्र खचित थे मुकुट में, नयन में गहरी नीलिमा,
और धवल कंबुकंठ, नभगंगमालधारिणी ।
सकंप कुच-मंडल पर सलिल-सा झीना उत्तरीय,
धारण की है क्षितिज-मेखला
मुखरित जो सिन्धु के बुद्बुद्-रव मे,
पदों में झरनों के नूपुर, देह पर वसंत के वस्त्र,

और सखी,
तुम तो अदम्य अपने प्राण प्रोल्लास के प्रकर्ष से उमड़ती,
अलंकार की करती अवहेलना,
खेलती अनलंकृता अनवगुंठिता भूतल पर ।
था उभय के हृदय में दैवी मृदु सुमेल ।

समृद्ध तुजने सुअर्घ्य प्रकृति प्रहर्षे सदा
समर्पती, अने तुंये प्रकृतिनी रचे अर्चना.

परन्तु कदी मुग्ध चक्षुद्वय, हे सुमुग्धे, तव
सखी प्रकृति शांतज्योत अपरूप निज चारुता
वडे जरी लुभावी ऊंडुं ललचावती, ने थतुं
तने घणीय वेळ के सखी बतावती तेथी तो
छुपावती ज कैं- गणुं, न उपभोग वहेंची करे,
स्वयं करती शोख स्वाद उपभोग एकाकिनी.
न सख्य अम बे विशे घडीक संभवीये शके.
अने कंई मिषे लढीवढी कर्या ज कट्टा. पड्यां
जुदां, पण निवास तो निकटना ठर्या नित्यना.
सखी उभय एकमेक थकी नित्य रहे झूझती,
झूटावती ज एकमेक थकी शक्ति रिद्धि प्रभा.

३

तने तुरत त्यां निहाळी मनमस्त झूझंती, हो !
अनेक उरगो चतुष्पद कुलोनी हिंसा सह.
डिलेथी मृदु ल्हेरती अनिलनी ऊडे लोबडी.
हता ज नखदंत रक्तटपकंत तीणा तीखा,
हती तडित नेत्रमां, धडक माही झ गानिलो,
प्रचंड पदतालतांडवप्रपात उल्का झरे.
सखी, सुरमणीय मूर्ति तव ते करालो हती.

मने मुरत देतो ए चिरलसंत नेत्रोत्सव :
सखी निखिलनग्न, मग्न निज अंगलावण्यना
निरीक्षण महीं रसांकित वळांक अंगांगना.
अकुंठित हतां तव भ्रमण. शैशवक्रीडनो
तजी अनुभवी रही तरवराट कौमारनो.

प्रकृति देती थी तुझे समृद्ध अर्घ्य सदा प्रहर्ष से,
और तू भी करती थी प्रकृति की अर्चना।

परन्तु, हे सुमुग्धे
तेरी सखी प्रकृति लुभाती मुग्ध चक्षुद्वय को
ललचाती शांत-ज्योत अपरूप निज चारुता से,
और तुझे लगता था कई बार
कि सखी जितना दिखाती है,
छिपाती है उससे कई गुना अधिक,
बाँट कर नहीं करती है उपभोग,
स्वयं एकाकिनी करती है शौक़, स्वाद, उपभोग।
संभवित नहीं सख्य, क्षण एक भी हम दोनों के बीच,
और तब किसी मिष
लड़-झगड़ कर तोड़ दी मित्रता—हुए अलग,
किन्तु निवास तो रहे निकट के और नित्य के।
सखी उभय परस्पर झगड़ती है प्रतिदिन
छीन छपट लेती परस्पर से शक्ति, रिद्धि, प्रभा।

३

तुझे देखा वहाँ तुरन्त मदमस्त. जूझती हुई
अनेक उरगों और चतुष्पद कुलों की हिंसा के साथ।
देह पर उड़ रहा मृदु अनिल का आँचल।
नखदत थे रक्त स्रवित पैने-तीखे,
तड़ित थी नेत्रों में, धड़कन में थे झंझानिल,
प्रचंड-पद-ताल-तांडव-प्रपात से झरती उल्का।
सखी हे, तुम्हारी वह सुरम्य मूर्ति थी कराल।

वह मूर्ति देती मुझे चिर नेत्रोत्सव :
निखिल नग्न अपने अंग-लावण्य के निरीक्षणों में मग्न
अंगांग की रसांकित बंकिमा।
अकुंठित था तव संचरण
तज कर शैशवक्रीड़ा, अनुभव किया चापल्य कौमार का,

अने रुचिरयौवने द्रुतपदे प्रवेशी मदे.

सुयौवन दीपावती सखी बनीठनी कोक दी
विराजती रसे भरी अचलशृंग सिंहासने,
झुकावती कटाक्षपात स्मितवल्लीनी बंकिमा
वडे अदम पौरुष; प्रणयथी भरी छातडी
झूकी तव सखी, अने प्रणयिनी बनी तु खरी.
गृहाकुहर ने पलाशवटआदिना मंडपो
रचेल नवपल्लवे वनलतालचंता तहीं
मची रमणकेलि मस्त सुरतोनी लीला तव.
हता करतलो सुरक्त कमलो समा, ने मुखे
सरंती सुरखी तणी अजब ल्हेरखीओ, सखि !
रगेरग धसे दडे रुधिरना महाधोधवा,
द्रुतश्वसनथी स्तनो थडकी ऊपडे कारमा,
शमावती सुगौर स्पर्शती स्तनांत हस्तांगुलि.
ऊडे हृदयमां हुलास नवसर्जनोना मीठा.
न ए अरधमूर्छिता सुरत ताहरी छानी, जे
युगोयुग तपो तपी मळी ज रत्नगर्भे तने.

८

बनी तुं कंई धीर शांतप्रकृति सुगंभीर, ने
तजो वनविलास यौनतणा, सरित्कंठ के
सरोवर तणे तटे विटपकाष्ठखंडो वडे
रच्यां लघुक गोष्ठ रम्य तृणपर्ण-आच्छादियां.

और फिर प्रवेश किया द्रुत पदों से रम्य यौवन में।

शोभित करती अपने यौवन को
बनठन कर कभी बिराजती थी सगर्व
अचल शृंग के सिंहासन पर,
कटाक्षपात, स्मितवल्ली की बंकिमा से विजित करती
अदम्य पौरुष को;
प्रणय से भर छाती तुम्हारी झुकी हुई,
और, बनी तू सचमुच में प्रणयिनी।
नवपल्लव और वनलता से रचित
गुहा-कुहर और पलाश-वट आदि के मंडप मे
की रमण-केलि
रची मस्त लीलाएँ, सुरत क्रीड़ाएँ।
थे करतल सुरक्त कमलों के समान
और मुख पर थी अनुपम रेखाएँ लालिमा की,
प्रत्येक नस में धँसता गिरता
रुधिर का महाप्रपात।
द्रुत श्वसन मे उठते स्तन धडक कर वेग से,
शांत करती सुगौर करांगुलि से स्पर्श कर रतनांत।
उठते है हृदय में नवसर्जन के मधुर उल्लास।
नहीं है गुप्त, तेरी वह अर्धमूर्छिता मूर्ति
जो युगों तक तप तप कर
मिली है तुझे, हे रत्नगर्भे!

८

हुई तू कुछ धीर, शांतप्रकृति सुगभीर
और तज कर वन-विलास यौवन के
सरिता के किनारे या सरोवर के तट पर,
विटप काष्टखंडों से रचे लघु रम्य गोष्ठ
तृणपर्णों से आच्छादित।

वसी स्थिर बनी घडीक अहीं तो घडी अन्य को
स्थले सरल नाखती वतन काज डेरा नवा.
अरण्यपशुओ सुसंस्कृत कर्यां ज धीरे धीरे;
लई सहुय साथ शाद्वलवती धरा ढूंढती,
निवास रचती, पड्या मूकी पळे नवा शोधती.
परन्तु लघुगोष्ठ जे प्रतिस्थले रच्यो, त्यां खूणे
दुहे पशु, सुवत्स साथ कंई गेल घेलो करे.
सुमंगल वसुंधरानी दुहिता बनी तुं सखी.
स्वयं जननीवेश स्वानुभव आ बधा लै वडा
बनी प्रजननार्ह, बेसमज जे हलेती हती.

५

वटी त्वरित वेळ नेत्रपलकारमां तो बनी
अपत्यवती, हे सखी, उमळके खूंदे खोळलो
मीठां शिशु, सुहागिनी, नयनजोडली ठारतां.
थयां घूंटणभेर, ना हरख माय तारे उरे.
घूमंत शिशु अत्रतत्र नवखंड खेडी रहे.

खील्यां शिशुप्रभावथी तव महत्त्वलावण्य शां !
प्रजा निज निहाळती रूडुं महालती तुं सुखी.
—अहीं सुभग पानीढंक घननील वेणी धरी,
शिरे मुकुट शोभतो अवनवो पिरामिडनो.

बस कर स्थिर हुई यहाँ कुछेक काल,
फिर वहाँ कुछ काल,
वतन के लिए नये नये डेरा डालती हुई।
अरण्य पशुओं को किया संस्कृत कालक्रम से
ले सबको साथ
शाद्वलयुक्त धरा को ढूंढती हुई
नये निवास रचती हुई,
रख छोड़ उन्हें वहाँ ढूंढती दूसरे ही क्षण अन्य नये स्थल।
परन्तु लघुगोष्ठ जिस किसी स्थान पर रचा
वहाँ दोहती पशु को
वत्स को दुलार करती हुई बनी तू दुहिता
सुमंगल वसुधा की।
लेकर यह सब स्वानुभव जननी-वेश मे
बनी तू प्रजनन के योग्य
एक दिन जो फुदक रही थी ना-समक्ष।

## ५

त्वरा मे बीता समय
निमिष मात्र में हुई तू अपत्यवती,
खेलने लगे मोद से शिशु मधुर तेरी गोद में
नेत्रों को शीतलता प्रदान करते।
रेंगने लगे घुटनों से वे,
तेरे उर में आनन्द नही समाता था।
यहाँ वहाँ घूमते शिशु यात्रा कर लेते नवखण्ड की।

खिले शिशुप्रभाव से तेरे महत्त्व औ' लावण्य,
देख कर अपनी प्रजा को विचरती थी तू सुख से।
--एड़ी तक पहुँचती सुभग घननील वेणी धारण कर
सिर पर पिरामीड का विचित्र मुकुट,

झरे विमल स्तन्यधार शिशु धावतां कोडथी
लचे वपुनी वेल रिद्धिभर वेषभूषा धरी.
—तहीं हिमकिरीटिनी धवलभाल दिव्यागना
अलौकिक रटंत मत्र ऋचना स्वयप्रेरित.
विलासभर विस्तरंत कर गगसिंधु तणा,
मुहत गिरिमेखला कटितट, पदे सिंधुन्
रहे बजी मृदग, ठेक लई लकद्वीपे, महा
रमी अलखतांडवो, युगयुगो थया ने शम्या.
त्रिशूल कर धारी चड नागराज नङ्गा तणु
सुतीक्ष्ण कटिदेश मोहत कृपाण सह्याद्रिनी.
—अही शिर परे धर्या हरित शा जवारा, अने
निशाममय व्योमकदर अगाशीए बसीने
निरीक्षतां अनेकरूप गतिओ ग्रहोपग्रहो,
अगण्य उडुमडलां तणी, अकप नेत्रे, अने
न जे नियतिबद्ध मक्त नभधूमकेतु घूमे
नवी नियति आकना निजनी, ते रहे लक्षती
हता ज अलका समा भवन व्योमचुबी नव.
अही धरती म्हाड भाल पर नावडीघाग्नो,
शिरे चपलरम्य शोय हळवेथी वाको मूकशो.
सखी अवनीमध्यना सरसमांवड्डा मागरे
तरे तरलरंगिणी, जलतरग पे कोमळा
धरतां पदपद्म नर्तन अनेकश आदर,
समुद्रतलरत्न वीणतीं सलिलर्मीला करे.
—तही वळी पडाशमा गिरनी बकी हारो ऊभी,

बहती है विमल स्तन्यधारा
पान करते हैं शिशु चाव से,
शोभित है देहलता रिद्धिपूर्ण वेशभूषा पहन कर।
—वहाँ हिम-किरीटिनी धवलभाल दिव्यागना
उच्चारित करती है स्वयंप्रेरित ऋचा-मंत्र।

फैले है विलासभरे कर गंगा-सिंधु के,
कटितट पर सोहती विलास-मेखला,
चरणों में बजता सिधु का मृदंग,
पाँव रखकर लंकाद्वीप में खेलती अलख तांडव।

युग-युग हुए उदित और अस्त।
कर में ले त्रिशूल चंड नगराज नङ्गा का
कटिदेश में शोभित थी सह्याद्रि की कृपाण।
यहाँ धारण किये सिर पर हरित जवारे।
और रात्रि की बेला में निहारती थी छत पर बैठ
व्योम-कदरा--ग्रहोपग्रहों की,
अगण्य उडु-मंडलों की अनेकरूपा गतियों को अकंप नेत्रों से,
और, नही जो नियतिबद्ध, मुक्त जो—
अपनी नयी नियति अंकित करते—
ऐसे घूमते धूमकेतुओं को करती लक्ष्य।
थे तेरे भी
अलका के समान व्योमचुम्बी भवन।

—यहाँ धारण करती भाल पर नौकाकृति मौर
रखा सिर पर धीरे से, चपलरम्य बाँका।
अवनिमध्य के सरोवर समान सागर में सखी,
तैरती तरलरंगिणी जलतरंग पर,
रखती कोमल पदपद्म करती अनेकशः नर्तन।
समुद्रतल के रत्न बीनती हुई सलिललीला करती।
—वहाँ पड़ोस में खड़ी गिरि की बंकिम पंक्तियाँ,

नभे क्षितिजनी ऊंचे मृदु सुरेख अंकाई जे.
ऊभेल गिरिस्कंध को गिरिशिशु प्रतापी मनु.
सुरेखतर एहना दृढ वळांक काया तणा,
ज्वलंत नभपार्श्वभूमि पर रूपअवार शा.
स्वरूप तव चित्तनु हृदयनु वपु प्राणनुं
रसांकित थयुं तहीं नीरखी थै प्रसन्ना क्षण.
—समीप ज तहीं उठ्यो प्रगटी प्राण फफडावतो
धस्यो तव, दिशे दिशे अजय राजमार्ग रची,
अरण्यरण वींधतो जलधिकंठ ज्होंची हस्यो.
हती अनुप शक्ति ते समय वेगीली तेगनी.
हती अधिक शक्ति ए थकीय ताहरी जीभनी

—पणे सखी तु राचती अरवघोडले नाचती,
त्वरा न तव रक्तनी घडीय दे तने जंपवा.
—वळी कहींक धूलिधूसरित हाफती तर्फडे
कठोर रवितापमांही ज्वरतप्त काया तव
निरांत वळता जरीक, पग वाळीने ऊटनी
मझानी द्वय खूंध वीच, वधती पथे डोलती,
अनभ्र नभनी परोवी रूडी बीज भाला मही
----शके मखमले मढ्या महॅत क्याक मेदाननां
पटे दिवसरात लेटती विसामो करे.
--कपोल पर टेकवी कर कहीक एकान्तमां
अघोर वननां प्रचंड जलधोधरोणा सुणे.

नभ में क्षितिज से ऊँचे
मृदु सुरेख रूप में जो अंकित।
खड़े थे गिरिस्कंध
मानो कोई गिरिशिशु प्रतापी मनु,
सुगठित हैं उसकी काया के दृढ़ अंग,
ज्वलंत नभपार्श्वभूमि पर रूप अंबार के समान।
तेरे चित्त का, हृदय का, वपु-प्राण का
देख वहाँ रसांकित स्वरूप
हुई क्षणभर प्रसन्न।

—समीप में ही वहाँ फुत्कारते जग उठे तेरे प्राण,
प्रत्येक दिशा में रचकर अनूठे राजमार्ग,
अरण्य, मरुभूमि पार करता हुआ
मुस्कराता पहुँचा जलधि-तट।

थी अनुपशक्ति उस समय सवेग तलवार की
और उससे भी अधिक थी शक्ति तेरी जिह्वा की।
—वहाँ तू अरबी घोड़े पर नाचती,
तेरे रक्त की त्वरा
क्षणभर को भी तुझे चैन नहीं लेने देती।
—कहीं धूलिधूसरित तड़पती थी हाँफती-सी
कठोर रवि ताप में तेरी ज्वरतप्त काया।
थोड़ा-सा ही आराम मिलने पर
बैठ कर ऊँट की पीठ पर,
आराम से डोलती हुई,
बढ़ती जाती थी पथ पर
अनभ्र नभ की सुरम्य दूज को पिरोकर भाले में।
मखमल-जड़ित मैदान में
लेटकर कभी सुस्ता लेती थी दिन-रात
रख हथेली पर कपोल कहीं एकान्त में
सुनती थी, अघोर वन के प्रचंड प्रपात रुदन।

प्रसूति हती ना हती तव क्रमेक्रमे थै गई
नवा जनमिया शिशु, प्रलय ने प्रसूतिव्यथा
तणा अनुभवे वध्या रुदन ताहरा, ना शम्या.

कईक शमशे गणी ऋषिवरो ऋचा उच्चर्या,
प्रशांत पण चडजोम प्रगटावियो ओम्ध्वनि,
सदंतर जशे चही गहनचिंतनोमा सया
प्रफुल्लमति व्यास 'धर्म, जय त्यां' प्रबोधी रह्या
वद्या सुभग धर्मधेनु दुहनार गोपाळ ए
सिनाई नगशृंगथी शमन क मूसाए कयु,
कयुं ज नझरेथना मृदु सुथारपुत्र घणुं
परंतु सुणता जरीक ज, तुं झाझुं तो भूलती,
लह शमनमार्ग ना, अगनकुंड ढंढी रहे
नहोर थकी चोरती रुधिरवाहिनी-जूथने,
कठोर जल शैल पे शिर अफाळती मद र्शा
अने उपवनो रचेल रमणीय ज त स्वयं
स्मशान मम ते वधा करी मूके घणा एकमां
हशे ज कशी भेलछा रुधिरमां सखी ताहरा !
सुकेश वीखरायला विचरती उघाडे पगे
न कटक गणे न कंकर, उतावळी व्याकुळी
पळे, पठळ अस्तव्यस्त अनिले ऊडे अचळो,

६

सतति तेरी हो गई क्रम से होने न होने-सी
नये नये जन्मे शिशु
प्रलय और प्रसूतिव्यथा के अनुभव मे
बढ़ते रहे तेरे रुदन, न हुए शान्त ।

शान्त कुछ हो सकेगे
मान कर ऋषिवरो ने उच्चारित की ऋचा,
प्रशात, फिर भी प्रचड
प्रगट की ओमृध्वनि,
खोजना है चिरन्तन उपाय ऐसा सोच कर
गहन चिन्तन मे निमग्न हुए ।

प्रफुल्लमति व्यास ने
'यतो धर्मस्ततो जयः' का प्रबोध दिया,
सुभग धर्मधेनु को दोहनेवाले वे गोपाल बोले ऐसा ।
सिनाई नगशृ ग से शमन कुछ मृसा ने किया,
बहुत कुछ किया नझरेथ के मृदु बढई-पुत्र ने ।

किन्तु सुनती थी तू बहुत कम,
तू भूलती थी ज्यादा,
शान्ति का मार्ग न ‘कर
ढूँढती रहती अग्निकुड ।

नाखूनो से चीरता रुधिरवाहिना जूथ को,
कठोर जड़ शैल पर मूढ-सी पटकती सिर ।
और, स्वय निर्मित रम्य उपवनो को
एक क्षण मे कर देती तू स्मशानवन ।
कुछ है ऐसा पागलपन, हे सखी, तेरे ही रुधिर मे !
बिखरे केश लेकर घूमती नगे पाव ।
न मानती ककड़, न मानती कटक,
सवेग बावली चलती ।

पीछे अग्नि में उड़ता रहता अस्तव्यस्त आँचल,

पहोंची जई को ज्वलंतमुख काळ ज्वालामुखी
तणा उदरमां प्रवेश चहती रहे चितती.
अहो अशम घेलछा प्रबळ आत्महत्या तणी !
घडीघडी उरे तने घूरकी आवती शी ऊठी !

चणेल पुरम्हेल मंदिर अगाशीए ओपतां,
करेल पृथिवीपटो हरित कार्पणे सींचने,
सरोवर नदी विशाळ जलधि तणे कंठ कै
रचेल जळघाट बंदर महार्घ आवास मौ.
क्षणेक महीं भस्मसात नहिशां करे घेलडी.

धुरा फगवी तें पतित्वनी स्वशासने राचनी,
रचे प्रणय नैक, स्वैर हृदये रहे म्हालनी,
स्थलेस्थल रमी रमी नवलयौवने प्राणिना.
विदारी स्थलभोगळो कहींक खंडखंडो तणी
समुद्रकर मेळवे इतर को जलश्री थकी.
अने जलतरंग पे विविध नर्तनो मांडी न
प्रफुल्ल बनी भान थकी मस्टत एकत्वना.

वळी गगनमां ऊडी मरुतशक्तिने नाथती,
घूमी रही रमी रही नभ यदृच्छया खेलती.
स्थले, वळी जले, नभे प्रबल वायुना चक्रमां,
वधेय अति शो प्रभाव तव विस्तर्यो चोदिशे !
वध्युं ज तव व्यक्तिमत्त्व तणुं भान, थै न मुखी.

टक्युं न सुख ए सखी, हृदयमां ज जुदाई ज्यां,

पहुँच कर किसी ज्वलंतमुख काल-ज्वालामुखी के उदर मे
प्रवेश की करती कामना।
अहो! निर्बाध पागलपन प्रबल आत्महत्या का
क्षण क्षण तेरे उर मे जाग उठता है!

रचे थे पुरमहल मदिर अट्टालिकाओ से शोभित,
किये थे पृथ्वीपट हरित
हल जोतकर, जल सीचकर,
सरोवर, नदी या विशाल जलधि के किनारे पर रचे थे
जलघाट, बदरगाह, महार्घ आवास।
इन सब को क्षण मे कर भस्मसात
नही के बराबर कर देती तू पगली।

धरा फेंक दिया पतित्वका
खुश रहती स्वशासन मे,
अनेक प्रणयो मे व्याप्त स्वैर हृदय मे विहार करती।
स्थल स्थल पर खेलती रही नवयौवन-प्राणित।
तोड कर स्थलअर्गला कही खड-खड की
समुद्रकर को मिलाती किसी अन्य जलश्री मे।
और जलतरग पर विविध नर्तन कर
हुई प्रफुल्ल तू मस्त, एकत्व के ख्याल मे।

और भी, गगन मे उडो
मरुतशक्ति को वश मे करती,
घूमती रही, खेलती रही नभ मे यदृच्छया
स्थल मे, जल मे, गगन मे, प्रबल वायु के चक्र मे
सर्वत्र चहुँओर विस्तारित हुआ तेरा अति प्रभाव।
बढा तेरा व्यक्तिमत्व का भान,
हुई तू सुखी।

नही टिक सका वह सुख
हृदय ही जहाँ जुदा थे,

સદ્યાં જ નહિ અમૃતો, ઉર વિષે વખો જ્યાં સ્ફુરે.
ન ચિત્ત તુજ ચાહતુ ચરણસૌખ્યને કિંચિતે,
સ્વયં સુખથી લેટતુ, મજલ પાયને ભાગ્ય તો,
સ્વયં નિશદી ગ્રસ્ત એક બસ એશઆરામની
સુરાની મધુધૂનમાં, ચરણને ચલાવે કઈ
અભેદ્ય વનમાંહી ભીષણ અગાધ ખીણો વિશે

અને સતત શાસનાવલિની વર્ષતી શી વૃષા !
ન એક ચરણો પરે, કમનસીબ બે બાવડાં
ન તેય ઘડી છૂટિયાં, સતત કાષ્ઠને વ્હેરવાં,
જમીન ખણવી, પડો કઠણ ખેડવા ભૂમિના,
ન જપ જરી લોહ ને ઇતર ધાતુઓ ટીપતાં

પ્રકાર વનવા મુગુટ ચિત વેઠુ વેઠુ કરે
સમૃદ્ધિ નવી પામવા અવનવી રચે કૂચીઓ,
અને પ્રકૃતિની વિરુદ્ધ નિત યુદ્ધ યાજ્યા કરે

અહો કશી પ્રમત્તતા, અખૂટ શક્તિમત્તા, અહા !
પ્રમાર્દા તવ ચિત્ત કેરા, ચકચૂર મત્તાસુરા
ઢીંચી અદય જે બન્યુ, કરતુ અન્યને નિ:સ્વ જે.
મળી પ્રકૃતિરિદ્ધિઓ તદપિ ન રહી રાંકડી.
ઘડ્યુ દૃઢ વ્યક્તિમત્ત્વ તવ જેહ એકત્વથી
ત્રુટ્યુ જ શતકોટિખંડ, તવ પ્રાણના અંચળા

पचता नहीं अमृत, हृदय में ही जब विष हो।
नहीं चाहता था तेरा चित्त चरण-सौख्य को थोड़ा भी,
स्वयं सुख में लेटता,
पाँवों के भाग्य में तो थी यात्रा,
स्वयं तो ग्रस्त था दिन-रात
ऐशोआराम की, सुरा की मधु धुन में,
चरण को चलाती रहती
अभेद्य वनों में भीषण अगाध घाटियों मे।

और कैसी बरसती शासनावलि,
न सिर्फ़ चरणों पर,
दोनों बदकिस्मत बाहु भी क्षणभर का चैन न ले पाये,
चीरते रहना लगातार काष्ठ का आरे से,
जमीन को खरोंचना, जोतना कठिन परती भूमि की,
न क्षण एक का विराम
निरत लोह और अन्य धातुओं को गढने मे।

नानाविध बनने को
बैठे बैठे सोचा करता सुपुष्ट चित्त,
नयी समृद्धि पाने रचना है वह नयी नयी कीमिया,
और युद्ध करता रहता प्रतिदिन प्रकृति के विरुद्ध।

अहो! कैसी यह प्रमत्तता, उच्छृंखल शक्तिमत्ता
तेरे प्रमादी चित्त की सत्तासुरा पी कर,
जो हुआ मदहोश, निर्दय,
जो करता अन्य को निःस्व।

मिली प्रकृति-रिद्धिया
तथापि तू बनी रही रंक।
गठित था जो दृढ़ व्यक्तित्व एकत्व से
टूट गया वह शतकोटि खंड मे।
तेरे प्राणों का वस्त्र

रह्यो दुरितवायरे फरकी चींथरेहाल शो.
शम्यां न, ऊलटां वध्यां तव नियागराक्रंदनो.

७

अरे क्यम शमाववां मुजथी शक्य आक्रंद ए ?
अशक्यतर एथीये प्रणय आवडो छांडवो.
सखी तव रिबामणी, उभयधा स्थिति प्राणनी,
अशम्य वळी घेलछा, रुधिरनी पिपासा महा,
बधुंय समजुं कंई; प्रिय हुं एथी तो चाहुं छु.
अनन्य अधिकारिणी उरनी एक तुं माहरा.
घणुंय समजुं सखी नहि हुं योग्य ए प्रेमने.
वळी समजुं, रे न ते विण घडी शकुं हुं श्वसी.
नथी प्रखर योगशक्ति सतस्पर्शती कृष्णनी,
सुवास अथवा सुकृत्य तणी सुक्रतु शी नहीं;
सिकंदर तिमर सीझर महान नेपोलियन
तणी, कुतुक रेलती तव उरे, न तल्वार वा;
न के कुशळ वांछती कुटिलताय चाणक्यनी;
न लिंकन महानुभाव तणु भव्य चारित्र्य वा;
अने नहि अशोक जे सुभग शोकहर्ता तव,
द्रवंत तव घावने रुझवनार मा'राजवी—
न एहनी उरे अरे मुज दयानुकंपा लव.
अगाध अफलातूनी मनन शुद्ध प्रज्ञा तणां

दुरित पवनों से हो गया छिन्नभिन्न-सा।
न हुए शान्त, बढ़ते गए
तेरे नियागरा-क्रन्दन।

७

अरे कैसे संभवित है मुझसे
शान्त करना इन आक्रन्दों को ?
इससे भी ज्यादा असंभवित है इतने प्रणय को छोड़ना।
सखी, तेरे कष्ट, प्राण की उभयधा स्थिति,
अशम्य पागलपन, रुधिर की महापिपासा,
सब कुछ समझता हूँ;
इसी से तो प्रिये, तुझे चाहता हूँ।
अनन्य अधिकारिणी एक तू है मेरे हृदय की।
बहुत समझता हूँ कि पात्र नहीं हूँ इस प्रेम का।
फिर भी समझता हूँ
कि नहीं जी सकता एक क्षण उसके बिना भी।

नहीं है प्रखर योगशक्ति कृष्ण की
करती हुई, सत्य का स्पर्श,
नहीं है सुकरात के सुकृत्य की-सी सुवास;
नहीं है सिकंदर, तैमूर, सीज़र या महान नेपोलियन की
तलवार,
कौतुहलों को बहाती तेरे हृदय पर;
और नहीं है कुशलता की कामना करनेवाली कुटिलता
चाणक्य की;
नहीं है महानुभाव लिंकन का भव्य चारित्र्य;
नहीं है अशोक—तेरा सुभग शोकहर्ता
बहते घाव को भरनेवाला महान राजा—
नहीं है उसकी मेरे उर में लेश भी दयानुकंपा।

अफलातून की प्रज्ञा का
शुद्ध अगाध चिंतन भी नहीं,

नहीं, प्रकृतिदत्त शेक्स्पियर शा कविप्राज्ञनी
न शक्ति, नहि भक्ति के अमर मुक्तिनी शेली शी.
न रे रसिकताय रंच कवि कालिदासादिनी.

यथा ललित कोमलांगी रसगर्विता रूपसी
मनोज्ञमहिषी सुधासभर किलअपात्रा समी
सवारी चडी राजमार्ग पळती दमामे कदी,
दिगंत थकी राजवीगण पधारी चारे दिशे
भमे चरण चूमवा, तहीं शहेरने को खूणे
अकिंचन ऊभेल को प्रणय सेवतो अंतरे
निरीक्षण सवारीनु अश्रुतचक्षथी रोमनां
निरंतर कर्या करे, पण गई ज सम्राज्ञी तो,
गयो प्रणय,—मात्र त्यां वळ्युंजळ्युं ज हैयुं रह्युं.
अरे प्रणय माहरोय बस एहवो ! जाणु छु.
छतांय प्रणये सदैव चकचूर हैयुं रहे,
सूझे न कंई अन्य वात, तव एक आराधना
अहर्निश स्फुर्या करे, शमनना उपायो रमे
त्वदर्थ, अभिषेक औषध समी गिराना स्रवे.
विराट तव वेदना, उर तणो ज आँथार ए
घडी अधघडी कशे जरीक जंप पामे नहि.
निहाळ तव नेण घूर्णित मदे, अजंपा उरे,
वर्धंत अधिकाधिको सतत चित्तअस्वस्थता,
फरी घूरको ऊठती महींथी आत्महत्या तणी

शेक्सपियर जैसे कविप्राज्ञ की प्रकृतिदत्त शक्ति भी नही,
शेली की अमर मुक्ति की भक्ति भी नहीं,
और नही है
रसिकता जरा भी कवि कालिदास आदि की।

जैसे ललित, कोमलांगी, रसगर्विता, रूपसी, मनोज्ञ महिषी, सुधामय
क्लिओपाट्रा की सवारी निकली हो राजमार्ग पर
शाही रोब से,
आ आ कर दिगन्त मे राजागण
घूमते चहुँदिश उसके चरण चूमने को,

वहा शहर के एक कोने मे खडा हो कोई अकिंचन
मन मे प्रणय संजोता, रोम रोम के अयुत चक्षुओं से
निरन्तर निरीक्षण करता रहे सवारी का,
किन्तु गई साम्राज्ञी, प्रणय भी गया,
मात्र वहाँ जला-भुना हृदय ही रहा।

ऐसा ही मेरा प्रणय है---
जानता हूँ मैं।
फिर भी सदैव रहता मदहोश प्रणय मे यह हृदय,
नही सूझती अन्य कोई बात
तेरी ही एक आराधना अहर्निश स्फुरित होती है,
तेरे लिए शमन का उपाय सोचता है,
औषध-सी वाणी के अभिषेक स्रावित होते है।

विराट है तेरी वेदना,
उर का यह भार जरा भी क्षण-दो क्षण नही होगा शान्त।

देखता हूँ, नेत्र हैं तेरे घूर्णित मद से,
अशांति चित्त मे, बढ़ती जाती है
अधिकाधिक निरंतर चित्त की अस्वस्थता,
देखता हूँ, फिर से जाग उठती है इच्छा
भीतर से आत्महत्या की,

निहाळुं, रडीने रहुं शमन रे न आ हाथमां.

८

अरे लवुक उंमरे प्रणयपाशमा ताहरा
पड्यो, न चसकी शकु, चसकवा न चाहुंय ते.
चहुं ज बस एक नित्य उर ताह आस्वादवा
—क्षमा ! यदि हुं चाहुं को इतर वस्तु तु काज—रे
निरतर रटी रहुं शिवभविष्य तारु प्रिये.
हुं तो क्षण क्षणार्ध आंही टकीने मटी जैश, ने
कदीय मळशे मने खबर तारी केमेय ना.
तु तो युगयुगान्तरो अमरयौवना जीवशे,
स्मरीश पण ना, हतो प्रणयी एकदा एक को.
 प्रणयी एकदा केवो एक कोई हतो तव.
 सभारीश न, संभार्ये कोईनुय भलु कशु ?

छतां चरम वांछना तव पदे, करो हे सखी
कृपा. हृदयप्राण तुमय मदीय घेला सदा
मीठो प्रणयनो अरे न प्रतिशब्द मागे जरी.
मने न परवा धरे हृदयमाहो वा उपरे
तु आ हृदयने भले न कदीये, न के रागनी
परागभर शोणिमाथी तरबोळ आत्मा करे.

रो कर रह जाता हूँ,
शान्त करने की क्षमता नहीं है इन हाथों में।

८

अरे, छोटी ही उम्र में
बद्ध हुआ हूँ तेरे प्रणयपाश में,
झटक नहीं सकता, झटकना चाहने पर भी।
चाहता हूँ नित्य बस, एक तेरे हृदय का आस्वाद।
—क्षमा !
यदि मैं कामना करता हूँ अन्य वस्तु की तेरे लिए—
मैं निरन्तर रटन करता हूँ,
प्रिये, तेरे मंगल-भविष्य की।
मैं तो क्षण क्षणार्ध
यहाँ जी कर मिट जाऊँगा
और कभी भी मुझे नहीं मिलेगी तेरी खबर कैसे भी।
तू युग-युगान्तर तक जिएगी अमरयौवने;
याद भी नहीं करेगी :
था कभी एक कोई तेरा प्रेमी।
कैसा था कभी एक कोई तेरा प्रेमी
याद मत करना
याद करने से किसी का क्या भला होता है ?
फिर भी चरम अभिलाषा है तेरे चरण में,
हे सखी, कृपा कर।
तुझमय मत्त मेरे ये पागल हृदय-प्राण
प्रणय के मधुर प्रतिशब्द की याचना न[illegible] करते।
मुझे नहीं परवाह इसकी कि तू मेरे इस हृदय को
अपने हृदय में या ऊपर से धारण करेगी या नहीं,
अथवा मेरी आत्मा को
राग की परागमय रक्तिमा से
तरबतर क[illegible]गी या नहीं।

तने उचित भव्यरीत मर हुं न चाही शकुं,
परन्तु प्रिय प्रार्थु के नित रहो तुं च्हावा जशी.
रहो तुं चाहवा जेवी हुंथी के अन्य कोईथी.
एटली उद्‌भवी तुने च्हातांच्हाता ज झखना.
अने च्हानारनी को दी कमीना न हजो तने,
अविश्रांत तने चाही मागु आज हुं एटलुं.
हजो वीरो रसात्माओ हैयुं हेले चडावता,
तारा कारी व्रणमुखे सीचनार सुधा तणा.
हजो आयुष्मती ! व्हेली स्व-स्थ तु ि‍स्मतमंडना,
हसजे जरी झाझु के, प्रेयसी हे चिरंतना,
सेवी'ती को स्थलेकाले मे ए दुर्दम्य झंखना.

[२०-८-१९३८]

## महेणुं

डोले अंधारघोर आभला
छूपी छूपी वीज करे वातडी :
'पूर्णिमाने कहेजो के कोक दी
आटली अजवाळे रातडी.'

[मे, १९३३]

तुझे उचित भव्य रीति से
मर्त्य मै चाह नही सकता,
फिर भी हे प्रिये, प्रार्थना करता हूँ
बनी रहे तू चाहने योग्य सदा ।

वनी रहे तू चाहने योग्य
मुझसे या अन्य किसी से ।
तुझे चाहते चाहते
पैदा हुई है ऐसी तीव्र कामना ।
और, न कभी कमी हो तुझे चाहनेवालो की,
निरन्तर तुझे चाह कर इतनी याचना करता मै आज ।
हो यहाँ वीर रसात्मा
हृदय को अत्यधिक उल्लसित करनेवाले,
तेरे भारी घाव मे सुधा का सिचन करनेवाले ।

आयुष्मती होना तू !
और होना जल्दी स्वस्थ, स्मितमडना,
हँसना थोडा ज्यादा
कि, हे चिरतना प्रेयसी,
मैने इस दुर्दम्य अभिलाषा को
किसी एक देश-काल मे सेया था ।

[२०-८-१९३८]

## उलाहना

झूमते अन्धकारभरे बादल,
छिपी-छिपी बिजली करती है बात,
'पूर्णिमा से कहना कि कभी
इतनी तो उजियारे रात !'

[मई १९३३]

## पितानां फूल

अमे जेनी खांधे वजन फिकरोनुं थई फर्या
बधे आयुर्मार्गे, जननी गलीकूंची विविधमां,
चडाणे ऊंडाणे, शिरविटमणाओ थई भम्या;
अमे लाव्या ए रे शरीर निज खांधे ऊंचकीने,
अहीं लाव्या ए रे शरीर निज खांधे जनकनुं.

अने जेनां हाडे पूरवजदीधी प्राणसरणी
पुराणी पोषाई वही अम महीं कौतुकवती,
अमे आव्या ए रे निज जनकना हाडढगनी
पडी सानीमांथी अगनबचियां फूल वीणवा.

भरी वाळी सानी धखधख थती टोपली महीं,
अने पासे व्हेळो खळळ वहतो त्यां जई जळे
डबोळी, टाढोळी, जरीक हलवी, ने दूधसमा
प्रवाहे स्वर्गगाजल थकी शके तारक वीण्या !

वीण्या तारा, फूलो, जगनुं बध्धुंये सुंदर वीण्युं,
न लाधे स्हेजे जे, शिव सकल आजे मळी गयुं;
शम्या मृत्युशोको, अमर फरकंती नीरखीने
पितानां फूलोमां धवल कलगी विश्वक्रमनी.

[एप्रिल १६३४]

## पिता के फूल

किसके कन्धे पर चिन्ताओं का बोझ बन कर
घूमते रहे हम आयु-मार्ग में,
जग के विविध गली-कूचे में;
चढ़ाव-उतराव में भटकते रहे हम
बनकर जिसके सर की परेशानियाँ;
ले आये आज हम उस शरीर को उठा कर
अपने कन्धे पर,
ले आये रे हम कन्धे पर शरीर अपने जनक का।

पूर्वजदत्त प्राणधारा पुरातन
पली जिसकी अस्थियों में,
विस्मय जगाती वह बही हममें,
आए हम ऐसे जनक के अस्थिपुंज की भस्म से
चुन लेने को अग्निशेष फूल।

बुहार कर भरा गर्म राख को टोकरी में
और जा कर, पास में बहने सोने के जल में रखा, डुबोया,
शीतल किया, जरा हिलाया
और दूध-से दीखते प्रवाह से
चुने मानों तारक स्वर्गंगा के जल में!

चुन लिये तारक, फूल, जग का जो कुछ सुंदर, चुन लिया,
जो नहीं प्राप्य सरलता से, मिल गया आज वह सकल शिव;
शमित हुए मृत्युशोक, निरख कर आज फहराती
पिता के फूलों में धवल कलगी विश्वक्रम की।

[अप्रैल १९३४]

## सद्गत मोटाभाई

१

अरधीपरधी म्होरी हती आयुष्यवेलडी,
पड्युं हिम अचित्युं ने निश्चेतन ढळी पडी
हजी तो जागता'ता ज्यां हैये कोड जीव्या तणा,
ढोळायुं केरु पात्र ने कै न रहै मणा.
    विताव्यु बाल्य लथडी, पडता ऊठंतां,
    कोढे किशोरवय स्वप्न रूडा रचंतां,
    ने यौवने कंई भगीरथ कीध यत्न;
    आशा थती फलवती क्षण तां जणाई.

    आयुष्यनी हती वसंतबहार मीठी,
    उल्लासथी मघमघत हतु ज हैयु,
    ने तोय रे सभर जीवनथाळ ठेली
    कां क्रूरताथी मुख फेरवी लीध आडु ?
    आ सृष्टिनी अजबसुंदर लोकलीला,
    आशा, हुलास, रस, ऊर्मि गिरा प्रसन्न,—
    ए सर्व एक क्षणमां ज तजी सदानां
    जानारनी मूझवणो लहीशु अमे शं ?

२

अमारे तो रह्यां रोणां, रुदनोथीय क्रूर ते
रह्यु मृत्युमींढु मौन तमारां पगलां जते.
ना अहींना पदार्थोनी तमे छो गणना करी;
अमारे तो तमारी रहै रटणा ज फरीफरी.
    न्होती जगन्नयन आंजती रूपशोभा,
    न्होती सभाजयिनी वाक्प्रतिभा यशस्वी,
    लोकोत्तर प्रकृतिदत्त हती न शक्ति,
    सत्ताप्रमत्त विभवो वळी पद्मजाना.

## स्वर्गीय बड़े भाई

१

अधूरी बौरायी थी आयु की वल्लरी,
उस पर अचित्य हिम गिरा, निश्चतन ढल पड़ी वह ।
अभी तो जीने की स्वप्नेछाएँ जग रही थी,
ज़िंदगी का पात्र ढल गया, कुछ भी नहीं बचा ।

बाल्य उठते-पड़ते, लड़खड़ाते बीता,
किशोर वय में रचे कई स्वप्न सुन्दर
और यौवन में किये कई भगीरथ यत्न
क्षणभर लगा कि आशा फलवती हुई ।

आयुष्य की मीठी थी वसंत-बहार
उल्लास मे हृदय महकता था पूरा
वहाँ भरा हुआ जीवनथाल दूर करके
क्यों क्रूर बनकर मुँह फेर लिया उलटे ?

इस सृष्टि की अजब-सुन्दर लोकलीला
आशा, हुलास, रस, ऊर्मि, प्रसन्न गिरा,
यह सब एक क्षण में ही सदा के लिए तज कर
जाने वालों की उलझन समझेंगे क्या हम कभी ?

२

हमें तो रहा रोना, रुदन मे भी क्रूर
रहा मृत्यु-मुँदा मौन तुम्हारे कदमों के पीछे ।
यहाँ के पदार्थों की तुमने की नही परवाह
हमारे लिए तो शेष रहती बार-बार तुम्हारी ही रटन ।

नहीं थी जगन्नयन आँजनी रूप-शोभा,
नहीं थी सभाजयिनी वाक्प्रतिभा यशस्विनी
लोकोत्तर प्रकृतिदत्त नही थी शक्ति,
पद्मजा के सत्ताप्रमत्त विभव भी नहीं थे ।

ए सर्व तो अहीं निरर्गळ छे भरेल,
ने तोय आ प्रकृतिनुं—वसुधानुं—पात्र
जातां तमे बनी गयुं रसशून्य रंक,
निःसत्त्वशां थई गयां सहु सृष्टितत्त्व !

शोभा भले जगनी कैं रचता पदार्थ,
शोभा भले जगनी ना मुज हो पदार्थ.
ए मारुं तो किमपिद्रव्य, अकल्प्य शोभा.
क्यां ए हवे अलभ द्रव्य अधन्यनु रे !

३

आषाढी आभनो भेदे वीजळी घनमंडप,
बळती जळती तेवी चित्तमां स्मृतिविद्युत.
श्वासे श्वासे रहे जागी डख अंतरछेदना,
पलके पलके ऊंडी टपके गूढ वेदना.

क्यां मूर्ति ए नीरखवी फरी कार्यशील
एकाग्र जे नियतदत्त प्रवाहधर्मे ?
संतोषी ए मुखनी आकृति सुप्रसन्न,
घूंटेल अश्रुकणशी वळी आंख आर्द्र ?

व्हेता अबोल मुखडे अपशब्द कोना.
व्हेता प्रसन्नमन सर्व कुटुम्बभार,
स्हेता अबोलहृदये अपकार्य कोनां.
व्हेवुं सहेवुं बस एक हती ज धून.

संसारनी वही धुरा पडी कांध, वेठी
होम्यां सुखो निज करी नित अन्यचिंता.
स्वीकारी आतुर उरे वडीले दीधेल
साध्यो सुकोमल वये कटु कर्मयोग.

यह सब तो यहाँ निरर्गल भरा है,
फिर भी प्रकृति-वसुधा का यह पात्र बन गया है
तुम्हारे जाने पर रसशून्य रंक
हो गए हैं सब सृष्टि-तत्त्व निःसत्त्व से।

जग की शोभा रचते हुए कई पदार्थ हों भले,
जग की शोभा मेरा पदार्थ भले ही न हो,
मेरा तो यह किमपिद्रव्य, अकल्प शोभा।
इस अधन्य का यह अलभ द्रव्य कहाँ से अत्र मिलेगा ?

३

आषाढी व्योम को भेदती है बिजली घनमडप,
उसी तरह चित्त में जलबल रही है स्मृतिविद्युत्,
श्वास-श्वास में जग रहा है अतर-छेद का डंक,
पलक पलक से टपकती है गूढ़ वेदना।

ऐसी कार्यशील, नीरव मूर्ति फिर कब दीखेगी
जो थी एकाग्र नियतिदत्त प्रवाहधर्म में ?
उस मुख की सतोषी सुप्रसन्न आकृति
घूंटे हुए अश्रुकणों-सी आर्द्र आँखे कहाँ दीखेगी ?

अबोल मुख से किसी के अपशब्द सहते हुए,
प्रसन्न मन से सारा कुटुम्ब-भार सँभाले हुए,
अबोल हृदय मे किसी के अपकार्य को सहन करते हुए,
वहन करना, सब सहना, बस यही एक धुन थी।

संसार की धुरा उठाते कंधा व्रणयुक्त हो गया,
उमे सह लिया।
निज सुख होमे, सदा अन्यचिन्ता की।
स्वीकार कर आतुर उर से बड़ों से प्राप्त—
कटु कर्मयोग सुकोमल वय में सिद्ध किया।

४

काळने ते कहीए शु जरीये नव त्रकियो,
पाच आगळीओमाथी अगूठे वाटे मकियो
पाड्ना पाच पुत्रोए हेमाळे हाड गाळिया,
रह्या'ना चर्म छेवाडे तमे आगळ शे थया ?

छे मृत्यु ता प्रकृति जीविनमात्रनी, ए
मत्ये ठहरे मन घणु, पण जो वसते
पर्णो खरे शिशिरमा खरवानु जेने,
तो सत्या क्या, ऋत कही, प्रकृतिक्रमो क्या ?
उल्लघिया शु मनुजे प्रकृतिक्रमो ए ?
के काई दी प्रकृतिएय विलापी माझा ?
क्याथी अरे मनुज पे ऊतरे अकस्मात् ?
शाने, कशी वरणी त्या, वळो शा ज न्याय ?
काडेथी जावनलना मृदु सीचवी का,
आकस्मिक प्रलय जा निरमेल एनो ?
के अध शु नियतिने मिर नामी रहेवु,
ज्याथी स्रवे अक तशक्तिभर्या अकस्मात ?

५

नियति, नियति, एक ऋत तु, वर सत्य तु.
विश्वे जे छे नथी ते क, हु न, छे एकमात्र तु
काळमीढ अध भित्ति, नियति ऊभजे भले !
अफाळी सिर सिचावु रक्तथी मनुजे भले !

छे मृत्यु जो अकर मत्य, वृथाश्रु शाने ?
शाने विलाप, ककळाट, अरण्यरोणा ?
जे के पडे नियतिन सिर नामी रहेवु
रे तोय क्यायथी अनर्गळ अश्रु व्हेता.

४

काल को क्या कहे, तनिक भी निशाना न चूका,
पाँच अँगुलियो मे से अँगूठा काट डाला ।
पाडु के पाँच पुत्रो ने हिमालय मे हड्डियाँ गलायी,
धर्म अन्त मे रहे, आप आगे क्यों हो गये ?

जीवित मात्र की प्रकृति है मृत्यु,
यह सत्य मन मे बहुत ठहरता है,
पर जो पत्ते शिशिर मे झरने चाहिए थे,
यदि झर जाएँ वसत मे ही
तो सत्य कहाँ, ऋत कहाँ, प्रकृतिक्रम कहाँ ?

मनुष्य ने यह प्रकृतिक्रम उलाँघे है क्या
या किसी दिन प्रकृति ही क्रम विलोपती है ?
कहाँ से उतरता है मनुष्य पर अकस्मात्,
किसलिए, कैसा चुनाव वहाँ, कैसा न्याय ?

लाड मे सिचना क्यो मृदु जीवन-लता को
आकस्मिक प्रलय इसका निमित्त हुआ यदि ?
या अध नियति के आगे सिर दे नवा
जहा म अनाकलनीय अकस्मात् है निकलना ?

५

नियति, नियति, एक ऋत तू, वर सत्य तू ।
विश्व मे जो है वह कुछ नही है, मै नही,
एक मात्र है तू ।
काली चट्टान अध भित्ति, नियति भले तू खडी ।
पछाड कर सिर मनुज को होना भले रक्ताभिसिक्त ।

मृत्यु यदि अटल सत्य, वृथा अश्रु क्यो ?
शोक, विलाप, क्रदन, अरण्यरुदन क्यो ?
जो कुछ आन पड़े, नियति के आगे सिर झुका सहे !
फिर भी ये अनर्गल अश्रु कहाँ से वहते है !

ना अन्यथा हतुं बनी शकवानुं कांई,
तो अन्यथा चहो वृथा बख घोळवां कां ?
ने तोय ते अगनथी ककळी ज ऊठी
आ आयखाभरनी आंतरडी अमारे.

भेटीशुं अन्य भवमा, वधु रम्य लोके;
ए इन्द्रजाळमहीं तत्त्वनी कै न श्रद्धा.
आयुष्य अल्प हतुं, स्नेह च अल्प भाई '
आयुष्य अल्पनी गया मूकी ए कमाई.

कमाई ए गया मूकी : उरनी मूक भावना,
शतकंठे बजी ऊठी जे मृत्यु तणी मींडमां.

[मार्च १९३८]

## छतां पो ले, व्हाला !

कहे छे के प्यालो कटुतम रसे छे ज सभर.
सदानीये एवी जीवतरकटोरी तुं गणजे.
छतां पी ले. व्हाला, झट गटगटावी तल लगी,
न एथी कै तारा वधघट थशे लेश दुःखमां.

[जान्युआरी १९३५]

अन्यथा बन सकनेवाला कुछ न था,
तो चाह कर अन्यथा यहाँ वृथा क्यों पीना जहर ?
और फिर भी अग्नि से जल उठती है
यह हमारी जीवन भर की आँतड़ियाँ।

मिलेंगे अन्य लोक में, अधिक रम्य लोक में
तत्त्व के इस इन्द्रजाल में नही है कुछ भो श्रद्धा।
आयुष्य अल्प था, स्नेह नही अल्प, भाई,
अल्प आयु की यही छोड़ गये हो कमाई।

छोड़ गये हो यही कमाई : उर की मूक भावना
शतकंठ से बज उठी जो मृत्यु की मीड़ में।

[मार्च १९३८]

## फिर भी पी ले, प्यारे !

कहते हैं : प्याला कटुतम रस से भरा है
जीवन-कटोरी को भी सदा के लिए ऐसा ही मानना।
फिर भी, पी ले, प्यारे,
तुरत गट-गट कर तल तक,
न होगी इससे तेरे दु:ख में
ज़रा भी कमोबेश !

[जनवरी १९३५]

# पांचाली

शहेरनी झाकझमाळ रोशनी
जेनां मीठां जीवनतेलथी बळे,
संस्कारिता माधुरी पंडितोनी
अज्ञान जेनां थकी लाजी ना मरे,
अने छटावैभव भद्रलोकना
जेनी गरीबी तणी ठेकडी करे,
एवा रांकां. अर्धां ढांक्यां,
अंधारामां दूर रहेतां मजूरो.

त्या रोज ले फानस जाय रात्रिए
उमगी को एक युवान, पेटवे
अज्ञानमां अक्षरज्ञानदीवडा.
जुवानिया सौ, वडीलोय को बळी
टोळे मळी, एक रची कूडाळुं,
बाराखडी, आंक अने पलाखां
शीखीशीखीने निजनी दरिद्रता
तणा बूरा आंक उकेलता मदा.

ने मिलनो—कातणनी, वणाटनी
वातो नवी दिवसनी उखेळता.
कोनो मकर्दम् बहु राड पाडे
ने कोणने दंड फिझूल तो थयो,
एवी घणीये खबरो सपाटे
रजू थती, जे अखबार शहेरनां
जाणे न, छापे न, गणी ज तुच्छशी.
अने बीजीये घरगथ्थु वातो
थती घणी खानगी—अर्धखानगी :
विटंबणाओ सुधराईनी, पीडा

## पांचाली

शहर की जाज्वल्यमान रोशनी
जिनके मीठे जीवन-तेल से है जलती,
पंडितों की सस्कार-माधुरी
जिनके अज्ञान को देखकर लजाते डूब नहीं मरती
और भद्रलोक का छटा-वैभव
जिनकी गरीबी का उड़ाता है ठट्ठा
ऐसे रंक, आधे ढँके—
अँधेरे में दूर रहते मज़दूर।

जाता वहाँ रोज़ रात को लालटेन लेकर
उत्साह से कोई युवक, जलाता
निरक्षरों में अक्षर-ज्ञान-दीपक
सब युवक, कुछ बुजुर्ग भी,
टोले में मिल कर, गोल बनाकर बैठते।
बारहखड़ी, अंक और जोड़-बाकी
सीख सीख कर, अपनी दरिद्रता के
बुरे आँकड़े पढ़ने लगे सदा।

और मिल की—कताई की, बुनाई की,
दिन की नई नई बातें सुनाते।
किसका मुकादम बहुत चिल्लाता है
और किसको फ़िज़ूल जुरमाना हुआ
इस तरह की कई ख़बरें तुरन्त ही
वहाँ पेश होतीं जो शहर के अख़बार
न जानते थे, न छापते थे, उन्हें तुच्छ मान कर।
और फिर दूसरी बातें घर-गिरस्ती की
होती कुछ खानगी—कुछ अर्ध-खानगी,
म्युनिसिपैलिटी की विडंबनाएँ,

भाडूतनी कोटडीओ तणी, अने
चर्चा थती जाहिर तदुरस्तीनी.
व्हांळुं कूंडाळुं रची एक रात्रिए,
अमासथी काजळकाळी रात्रिए
ज्यारे झबूकी धीरेथी डूकी
को तारलो तेजसळीथी आंजणा
अंधारनां आंजी जतो ज आभमां;
एवी वधु श्याम थती ज रात्रिए,
बेठा हता सौ, वचमां मूकी दीवो
प्रसारतो चोदिश तेज झांखु,
कंतायलां, मेलथरीथी वासतां
काळां शरीरो भणी आंख खेंचतो.
धीरे रही शिक्षकमित्र पूछतो;
"नाह्याविनाना अहीं कोणकोण, कहो ?
करो ऊंचा हाथ !" अने टपोटप
ऊंचा थया हाथ, रची लघु वन.

खिजाईने ए हितमित्र बोलतो;
"कहो अहीं शी सुधराईनी के
मिलो तणा मालिकनी कसूर छे ?"
अने पछी प्रेमप्रकोपथी घणु
एवुं बीजुं बोध रूपे वदी रह्यो.
ए दी तणुं भाषण खूब चाल्युं
श्रोताय वक्ता महीं डूबिया हता;
चोंको ऊठ्या त्यां सहुये अचिंत्या-
पास हतो (एक ज, चार चालीओ
वच्चे) मूकेलो नळ पाणीनो जे
सामे खूणे भींत नजीक तेहने
ढांकी दई आगळथी कूंडाळे

पीड़ा भाड़े की कोठरी की, और
सार्वजनिक तन्दुरुस्ती की चलती चर्चा।
फिर एक रात को, और एक बड़े गोलाकार में बैठे,
अमा-सी काजलकाली रात को
जब कि टिमटिमा कर धीरे से चौंध कर
कोई तारा तेज की सलाई से
अंजन अँधेरे का आँज गया व्योम में।

एक और काली बनती हुई रात को
सब बैठे थे, बीच में दीया रख कर
जो चारों दिशाओं में फैलाता प्रकाश
सूखे तन, हड्डी-पसली भरे, मैल की परतों से गन्धभरे
काले शरीरों प्रति आँख खीचता।
शिक्षक मित्र धीरे से पूछता है :
"यहाँ बिन-नहाये हुए कौन-कौन है, बोलो,
हाथ ऊँचे करो !" और एक के बाद एक झट से
ऊँचे हुए हाथ, एक लघु वन बन गया।

यह हितमित्र बोला खीझ कर :
"कहिए, अब इसमें म्युनिसिपैलिटी
या मिल के मालिकों का क्या क़सूर है ?"
और फिर प्रेमप्रकोप से बहुत कुछ
नसीहत की और भी कहता रहा उन्हें बातें।
इस दिन उसका भाषण खूब चला
श्रोता भी वक्ता की श्रेणी में थे डूबे हुए।

तभी चौक उठे सहसा सभी।
पास ही था (एक ही, चार 'चालों' के बीच)
एक पानी का लगा हुआ नल
सामने के कोने पर, दीवार के नजदीक,
उसे आगे से ढँक कर एक घेरा-सा बना कर

घूमी रही' ती गरबे मजूरणो.
'क्यां रंगमां भंग कर्यो !' वद्युं ज को,
बीजे कह्युं, 'आज घणुं चलाव्युं !'
'बाकीनुं काले !' 'बस, ना ! पूरुं करो !'
अवाज जाग्या, नव को मुणाया;
ने ऊठीने शिक्षकमित्र चाल्यो
मजूरणोना गरबा भणी, पूछे
'रहेवा दियो भाई, बहु ज आज तो
छे देर कीधी टटळे विचारीओ
ए क्यां लगी काम पूरुं कर्या विना ?
क्यारे सूशे ?' कोक वद्युं न ने मुण्युं,
ने म्होंची पासे, पूछवा जतो त्यां
मजूरणो मौ थई एक हारमा
दीवाल बांधी निज देहनी ऊभी,
दुर्धर्ष जोद्धो अटकावती शके !

'ना, ना'वशो !' बोलती कोक, ने तहीं
खंचाई थंभी जईने अचबे
डूबी, धीमे शिक्षक पूछवा जता,
'खलेल शाने...?'

'जोने' ली आने
न्हातां अही आपण त्यां पूगी जता
ना लाज आवे !' मुणी ए जईने
पाछा फरी शिष्यनी मंडळीमा
पूछ्युं, 'कयो स्नानतणा प्रकार आ ?'
धीरेथी कोके कह्युं, 'भाई, चोंथरुं
डिले मळे एक ज, ते उतारी
कोरे मूकीने जरी नाही लेवुं,
कै ओथ लैने; पछी प्हेरी लेवुं !'

मजूरनियाँ गरबा 'घूम' रही थीं।
किसी ने कहा—"क्या रंग में भंग कर दिया।"
दूसरे ने कहा—"आज बहुत लम्बा चलाया ?"
"बाकी कल।" "बस, जी ! पूरा करो !"

कुछ आवाज़ें उठीं, कुछ नहीं उठीं;
और उठ कर शिक्षकमित्र चला
मजूरनियों के गरबे के पास। पीछे से :
"रहने दो भाई, आज तो बहुत ही
देर कर दी, बेचारी राह देखें कहाँ तक
काम पूरा किये बिना ? कब सोयेंगी ?"
किसीने कहा, सुना नहीं
और पास पहुँच कर पूछने गया तो
वहाँ मजूरनियों ने एक हार में जमा हो कर
अपनी देह की दीवार-सी बना ली
मानों दुर्धर्ष योद्धे को अवरोधतीं वे।
"ना, न आइए", कोई एक बोली।
अचंभे में डूबा शिक्षक
धीमे से पूछता :
"क्या मैं आपके काम में खलल डाल रहा हूँ ?"

"देख तो री यहाँ तक आने में इन्हें,
जहाँ हम नहाती हैं,
शर्म भी नहीं आती।" सुनकर वह पीछे
शिष्यों की मंडली में जा पहुँचा
और पूछा, "यह स्नान का कैसा है ढंग ?"
धीरे से किसीने कहा, "भाई, चीथड़ा
मिला एक ही देह पर, उसे उतार कर
एक तरफ रख कर ज़रा नहा लेना,
कुछ ओट ले कर, फिर पहन लेना।"

'ने ए न धोवुं ?' युवके पूछ्युं रीसे,
'ए न्हावुं, ना न्हावुं, बधुं बराबर !'
ने बोलतांवेंत ज चोंकी जैने
हैया महीं कैं वरताई जातां
के कोकनी आंख तणे इशारे
पामी जई भेद, वदे व्यथार्थी,

'शुं सौ चलावे (कदी केम ना कह्युं
ए तो तमे ?) एक ज ओढणे अहीं ?'
'ते भाई, क्यांथी बीजुं ? जिंदगीथी
चलावीए एकजथी; नवाई ना !'
ने तूर्त दै फानसने बुझावी,
बीजे खूणे मंडळी गोठवी बधी;
ए दी व्यथार्थी ऊकळी वळीने
कैं वीर, कैं रुद्र करुण रेलती
अखूट धारे वछूटी ज वाचा :
'यंत्रो महींथी नीपजे न वस्त्रो,
वस्त्रो वणे छे मजूरी तमारी.
वस्त्रो वींट्यां एक नहीं, हजारो,
सचेत मोंघां शरीरे तमारे.
—छतां तमे तो सहुये नवस्त्रां !
सहस्र ए वस्त्र स्वरक्तमूलव्यां
डिले तमारे थकी खेंची खेंची
दुःशासनो शासी रह्या तमोने.
पांचालीओ ! क्यां लग सांखशो हजी ?'

ने रात खूटी, पण लेश ना तूटी
कैं वीर, कैं रुद्र करुण रेलती
ए शब्दधारा शबने सचेतती.

[ऑगस्ट १९३२]

"और उसे धोती नही ?" युवक ने गुस्से से पूछा,
"इस तरह से नहाना, न नहाना बराबर है !"
और बोलते-बोलते, चौंक कर
हृदय में कुछ समझ में आते ही,
या किसी भी आंख के इशारे से समझ कर,
व्यथा से बोला—
'क्या सभी निभाते (कभी यह तो आपने
हमसे नही कहा ?) एक ही वस्त्र से यहाँ ?"
"अरे भाई, कहाँ से दूसरा लाय ? जिंदगीभर
एक ही से चल रहा है, इसमें कोई नयी बात नही।"
और तुरत लालटेन बुझाकर
दूसरे कोने पर मडली सब जमा की।
इस दिन व्यथा से उबल कर, जल कर
कही वीर, कही रुद्र-करुण फैलाती
अखड धार-सी यह वाचा फूटी :
यत्रों में से वस्त्र पैदा नही होते,
तुम्हारी मज़दूरी ही वस्त्र बुनती है।
लपेटे हुए है एक नही, हजारों
सचेत, महँगे, तुम्हारे शरीरा पर वस्त्र।
...फिर भी तुम सब तो हो निर्वस्त्र !!
ये सहस्र वस्त्र स्व-रक्त के मोल लिये
तुम्हारी देह से खींच-खीचकर
दु:शासन तुम पर कर रहे हैं शासन।
पाचालियो ! कब तक यों करोगी सहन ?

और रात बीती, पर जरा भी नही टूटी
कही वीर, कहीं करुण-रुद्र फैलाती
वह शब्दधारा करती शव को सचेन।

[अगस्त १९३२]

## लूला-आंधळानी नवी वात

हतो एक मजदूर न जेनां दु:खनी थाय ज यादी
अने बीजो पडखे रहेतो को वचने—समाजवादी.
पेलो रातदो अंग गाळीने करे मजूरी काळी,
आंधळो एनी आंखे रोटी कदी न पूरती भाळी.
पडोशी एनो आंख-अक्कळे नरवो तोये रुए;
पूरो पांगळो अंगे, एनुं कोण धोतियुं धुए ?
रात पडे ने दिवस उगे के धुमाय बंन्यो रांका,
आंगळीवेढे फरीफरी गणता थया केटला फाका.

एक थाकीने लोथपोथ थई नसीव निजनुं श्रापे,
भद्रवर्गनी चूस बीजो खुरशीमां रही आलापे.
श्रापनिसासा, गाळगपाटा वडे न भूखडां भांगी,
त्यारे पेलो भण्यो पडोशी आंख ऊंचके फांगी,
"भला शीद तुं रातन्दाडो कूटे अंध मजूरी ?
मारी आंखे देखं जरी, तें अन्यनी भरी तिजूरी
धनिकोना भंडार भर्या तें, तारे नसीबे डाटा;
तारुं तुं वरते ना, तारी आंखे जुगना पाटा."
मजूरे एने ऊंचकी लीधो उमंगथी निज खांधे

## लँगड़े और अंधे की नयी कथा

एक था मज़दूर
जिसके दुःखों की नहीं हो सकती फ़ेहरिस्त,
पड़ोस में रहता था एक दूसरा व्यक्ति
था समाजवादी, सिर्फ़ वाणी में।

पहला करता था दिन-रात कड़ी मज़दूरी अंग गला कर,
उसकी अंधी आँखों ने कभी नहीं देखी भरपेट रोटी;
पड़ोसी था जो दूसरा, वह आँख और अक्ल से स्वस्थ
फिर भी रोता,
वह था पंगु अंग से, उस की धोती कौन धोये ?
रात पड़ती और दिन होता
दोनों रंक धूमिल होते जाते,
कितने दिन के उपवास हुए
उँगली पर गिनते जाते।

एक देता शाप अपने जीवन को थकान में चूर हो कर,
दूसरा अलापता है शोपण भद्र वर्ग का कुर्सी पर बैठ कर।
शाप-निश्वास से, गाली-गलौज से भूख नहीं हुई दूर।

पढ़े-लिखे पड़ोसी ने
अपनी अधमुँदी आँखे खोलीं :
"तू भला दिन रात करता है अंध मज़दूरी,
मेरी आँखों से देख,
तूने अन्य लोगों के भरे भंडार।
अनेक धनिकों के भंडार भरे तूने,
तेरे नसीब में डाट,
तू अपना हित नहीं समझता
तेरी आँखों पर युग-युग की बँधी है पट्टी।"
मज़दूर ने उसे अपने कंधे पर उठाया

लूलो कहे त्यभ अंधो चाले,—भेगुं बेउने रांधे.
देशप्रदेशे वात ऊडी ने वागी गडगड ताळी,
"जुओ ! घडीमां श्रीमंतोनी आवी मोतनी पाळी !"

अंधालूलाना कंई संघो ऊमट्या धरती खोळे,
लूलो खभेथी जीभचाबखे अंधाने ढंढोळे.
मजल चलावे अंधो, लूलो बेठो बेठो चावे.
कान अंधना हता साबदा : अवाज शेनो आवे ?
लूलाभाई खभे रहीने करता बे कर ऊंचा,
फळ झडपी रस चूसी अंधने देता सूका कूचा.
'जो, भाई धनिकोने लोभे मरवुं आपण भूखे;
झटपट तेथी चलो बिरादर, चलो सुखे के दुःखे !'

नागचूड अंधानी कोटे लूलाए जकडावी,
सिंदबादने दरियाई बुढ्ढाए जेवी लगावी.
हरतां फरतां, काम करतां, खातां, सूतां, रोतां,
पंडितनी ना चूड छूटती, डिलथी ऊखडे छोतां.
दूर देवगिरि पर भद्रोनी ताळी गडगड वागी :
'पगे चालीने ऊंचे आटले आपण चड्या अभागी.
अक्कलवंता खभे अन्यने केवा जुओ विराजे !
पंगु चडे गिरि पर ! जय प्रभुनो कळियुगेय शा गाजे !

[मे १९३५]

लँगड़ा कहता वैसे चलता अंधा ।
दोनों साथ रसोई पकाते ।
देश-परदेश में फैल गयी बात, तालियाँ बज उठीं :
'देखना, अब क्षण में
श्रीमंतों की मौत का समय आ धमकेगा ।'

अंधे लँगड़ों के कई संघ बने पृथ्वी पर,
लँगड़ा कंधे पर बैठ
जीभ की चाबुक से जगाता है अंधे को ।
मंजिल काटता है अंधा, लँगड़ा बैठे-बैठे खाता है···
अंधे के कान थे चौकन्ने : 'यह काहे की आवाज़ ?'
लँगड़े भाई बैठ कंधे पर करते दोनों हाथ ऊँचे,
तोड़ फल को, चूस कर रस को, छिलके अंधे को देते ।
'देखो भाई; धनिकों के लोभ के कारण
हम भूखों मरते हैं;
बिरादर, चलो वेग से चलो, सुख हो या दुःख !'

अंधे के गले में लँगड़े की नाग-पाश थी
जैसी सागर के वृद्धे ने गले में सिंदबाद की थी ।
घूमते-फिरते, काम करते, खाते-पीते, सोते-रोते
पंडित की जकड़ से मुक्ति नहीं ।
शरीर से उसके उखड़ रहे हैं छिलके ।
दूर देवगिरि पर भद्र वर्ग की बज उठीं तालियाँ :
इतनी ऊँचाई पर पैदल चल कर
हम चढ़े हैं अभागे,
देखो, अकलमंद दूसरों के कंधों पर कैसे बैठे हैं !
'पंगु लाँघता गिरि गहन ।'—
भगवान की जय
कलियुग में भी गूँज उठती है ।

[मई, १९३५]

## वांसळी वेचनारो

'चच्चार आने !
हेली अमीनी वरसावो काने !
चच्चार आने !
हैयां रुंधायां वहवो न शाने ?'
मीठी जबाने ललचावी हैयां
रसे पूरा किन्तु खीसे अधूरा
श्रमीण कोने अमथु रिबावतो
बराडतो जोसथी बसीवाळो.

घराक साचा सुणवा न पामे
वेगे जनो गाडी मही लपाई जे
बंसी सुणता प्रणयोर्मिगोष्ठिनी

'चच्चार आने !'
ना कोई माने,
अने ऊभे वांसळी-जूथ एनु
थयु न म्हेजे हलवु भम्यो छता
'चच्चार आने !'
लो, ने रमो रातदी स्वर्गनाने !'
—'चच्चार आने ?'
—'दे एक आने !'
'ना, भाई, ना, गाम जईश मारे,
छो ना खपी ! ईंधणथी जशे नही.
चच्चार आने ! बस चार आने !!'
पाछा वळतां, पछी जूथमांथी
खेंची मझानी बस एक बंसी,

## बाँसुरी बेचनेवाला

'चार चार आने में
बरसाओ अमृत की बरखा कानों में !
चार चार आने में
रूँधे हिये को बहाओ न क्यों ?'
मीठी ज़बान से लुभा कर दिलों को,
रस में पूरे; पर जेब से अधूरे
श्रमजीवियों को नाहक सताता
चीख रहा है जोश से बंसीवाला।
सुनने न पाते सच्चे गाहक
जो वेग से बढ़ती गाड़ी में दुबक कर
सुन रहे थे बाँसुरी प्रणयोर्मि-गोष्ठी की।

'चार चार आने !'
ना कोई माने,
और घूमने पर भी
कंधे पर जो बाँसुरी-दल
न हुआ तनिक भी हलका।

'चार चार आने में
लीजिए, और खेलिए रात-दिन स्वर्गीयता में।'
—'चार चार आने में ?'
—'दे एक आने में ! '
'नहीं भाई, नहीं, जाऊँगा अपन गाँव,
भले ही न बिकीं, जाएगी नहीं ईंधन से,
चार चार आने में, बस चार आने में !!'
वापस आते वक्त फिर उस दल से
खींची मज़े की बाँसुरी एक,

आषाढनी सांजनी झर्मरोमां
सुरो तणां रंगधनु उडावती
एणेय छेडी उरमांथी झर्मरो.
जीवंत आवी सुणी जाहिरात, को
बारी महोंथी जरी ब्हार झूकती,
बोलावती तालीस्वरेथी बाला.
हवे परन्तु लयलीन कान,
घराकनूं लेश रह्युं न भान.

[२२-६-१९३५]

## मुखचमक

हजारो च्हेरामां मुख चमक तारी मधुरवी
रहेतो ढूंढी हुं, मळी तुं न हतो ज्यां लगी मने;
अने आजे ज्यारे, प्रिय तुं पडखे बेठी अहीं छे,
हजारो ए पेलां मुखनी रहुं ढूंढी चमक हुं.

[१-१२-१९३७]

आषाढ़ी शाम की रिमझिम में
सुरों के रंगधनु उड़ाती हुई
उसने भी छेड़ दी उर से फुहारें।
सुन कर ऐसी जीवन्त इश्तिहारी
खिड़की से ज़रा झुक कर कोई बाला
बुला रही है ताली-स्वर से उसे।

किन्तु अब लयलीन हैं कान,
गाहक का लेश भी रहा नहीं भान।

[२२-६-१९३५]

## मुख-चमक

हज़ारों चेहरों में मधुर तेरी मुख-चमक
ढूंढता रहा मैं—
जब तक तू मुझे नहीं मिली थी;
और आज जब, प्रिय,
तू पास में यहाँ बैठी है,
उन हज़ारों मुखों की चमक ढूँढ रहा हूँ !

[१-१२-१९३७]

## ढ सदायनो

"जा रे ठोठ ! कदी एवुं बनीये शकतुं हशे ?
आपणा एक भू-गोले होनां बे सहरा हशे ?"
"हा, काका, चोपडी छे ने, आ भूगोळनी ते महीं
देखो आ सहरा नानुं, निशाळे मोटुं छे वळी."
"जा रे भूडा ! रह्यो ए तो एवो नु ढ सदायनो.
हशे जा नकशामां ना सहरा, बीजु शु हशे ?"

"ए ज ता कहु छ्, काका, छे कोने पण मुणवु ?
नकशे नकश भालु सहरा, छे न एक ज."

अने ए तो मूतो एनो बळतो मूकीने दीवो;
स्मितरेखा मुखे, जाणे काकाने शीखव्युं कंई.

हा. भाई, सहरा काई भू-गोले नथी एक ज.
मानवी मानवी हैये सहरा सहरा ज छे.

जीव को झाझवां न्याळी पामी टाढक जंपता,
कोई लीला रणद्वीपो रची राचे अणु समा,
घणा तो, पण, आशानां झांझवां के सुखो तणी
घडी लीली न एके ते पामता, भस्म थै जता.

दुख एनु न के झाझुं—झांझवा न दीठा तणुं,
न के लीली घडी जोवा मळे कोने न, ए तणुं,—
दुःख तोये दमे झाझु, एटलुं मात्र जोई के
जनहैयारणोने ना भव्यता सहरा तणी.

[२०-३-१९३७]

## सदा का ठोट

"जा रे ठोट ! कभी ऐसा हो सकता है क्या ?
एक भूगोल हमारा जिसमें होगे दो सहरा ?"

"हाँ चाचा, यह भूगोल की जो किताब है न !
देखे इसमें छोटा सहरा, शाला में तो है बहुत बड़ा।"

"जा रे धीठ ! रहा तू ऐसा ही सदा-सर्वदा का 'ढ'*
नक्शे में नही सहरा होगा, तब और वहाँ होगा क्या ?'

"यही कह रहा हूँ मैं चाचा, सुनता है पर कौन मेरी ?
हर नक्शे में देखूं सहरा, सहरा तो एक नही है।"

और सो गया वह तो जलता दिया छोड कर,
स्मित-रेखा चेहरे पर, मानो सिखा गया चाचा को कुछ।

हाँ भैया, सहरा नही केवल भूगोल मे ही
हृदय-हृदय में मानव के है मरु हाँ मरु।

मृगजल देखा जिसने, सोया गहरे सुख मे,
कोई अणु-से रच कर हरे-भरे मरुद्वीप, राचता,
और बहुत-से तो आशा के मृगजल या सुख का
हरा एक भी पल पाये बिना, हो जाते हैं खाक।

ज्यादा नही है गम इसका—देखे नही मृगजल,
या इसका कि मिलता नही हराभरा पल किसी को,
बहुत सताता गम जब दिखाई पड़ता केवल इतना—
जन-हृदयों के मरु में नही है भव्यता सहरा की।

[२०-३-१९३७]

---

* ढ (गिनती के शताब्दियों के विरामक्रम मे न उचरनेवाला वर्ण) = ठोट।

हवे जरी उतारुं थाक ।
शो नसेनसे फरी वळ्यो अथाग !
छे हवे न लांबी वाट,
शा उचाट ?
स्पष्ट ऊडती जणाय गोधूलि अहीं थकी.
न दूर गाम छे नकी.
अही जरी उतारुं थाक !
अंध अंधकारनी नथी उरे जरीय धाक.
पथ्थरे जणाय ओ पणे !
निर्जने वने
बेसवु ज अन्य कोण बेसणे ?
रम्य ए सिंहासने
बिराजवु घडीक एय शी लहाण ?
तख्त हो भले पहाण,
अंगअंगनां अनेक छिद्रथी छूटेल
वारिधार, हो जलाभिषेक छो ठरेल,
ने अरण्यपल्लवे रचेल मंडिले
ज शीर्ष शोभजो भले,
भले हजो समृद्धि रक,
आज तो अरण्यमात्रनो बनीश राजवी निशंक.
ने हसीश राजवी सहुय भूतकालना
अने अनेक आजना—थनार जेह कालना—
हसीश ने रचीश काव्यराणी कंठ माट माळ,
स्निग्ध ने मीठी रसाळ,
जे घणीक तो गूंथी अरण्यवाटडी भरी

## सिवान के पत्थर पर

अब ज़रा उतारूँ थकान—
कैसी नस-नस में फैल चुकी है अथाह !
अब नहीं है लम्बी राह
क्यों उचाट ?

स्पष्ट उड़ती दीख रही गोधूलि यहाँ से
दूर नहीं होगा गाँव ।
यहाँ ज़रा उतारूँ थकान !
अंध-अंधकार की नहीं है हृदय में
तनिक भी धाक ।

दिखाई देते पत्थर भी वहाँ !
निर्जन वन में

अन्य कौन से आसन पर बैठूं ?
रम्य इस सिंहासन पर
एक घड़ी बिराजने में भी कैसा चाव ?
तख्त हो चाहे पाषाण,
अंग-अंग के अनेक छिद्रों से छूटी हुई वारिधारा
हो जलाभिषेक भले,
और अरण्य-पल्लवों द्वारा रचित उष्णीश से ही
सर शोभित हो,
भले ही हो समृद्धि रंक,
आज तो बनूंगा अरण्यमात्र का राजा निःशंक ।
हँसूंगा भूतकाल के तमाम राजाओं के नाम
और अनेक आज के—होनेवाले कल के· -
हँसूंगा और रचूंगा कवितारानी के कंठ के लिए माला,
स्निग्ध और रसपूर्ण,
जिसका अधिकांश गूंथा अरण्य की पगडंडी पर,

एकएक एम के डगेडगे करो.

आवी वायुल्हेर ! हाश !
एक आश :
—छो न  ग्होंचवुज घेर,
ठेर ठेर
छो ठरेल  आथडी भमी भूली ज थाकव
मळे परतु  क्यांक  श्रांतिस्थान एक  आहव ;
ज्यां न जिदगी-धमाल,
ज्यां नडे न आजकाल,
ज्यां विरामीने घडी व्यथा बधी भूली जवी,
अने बनी रहेव पंडना  महान राजवी.

कोण ए ? तु कोण जाय रे ?
न जाणतो तु कोण  सीममां अही फरे ?
हुं छु  आंहीं राजवी,
आण एक मारी आंहीं मानवी.
ने समीप आवीने वद्यो प्रजाजन,
'सुणोजी राजन !
पूर्वमा त्रिलोकमग,
उत्तरे फतेहखां तणा जुओजी ठाठरग;
पश्चिमे खुशालभानी जागीरे जरी न आंच.
दख्खणे दिलेर, त्या डुबाडी तो जुओ ज चांच.
पछी रही वडेरी सीम, आपनी, अहा !
राज वीण माजवी

थवा दीमे छ नेम आपनी महा !
आपनी कहोजी  आण क्यां  रही  ज मानवी ?'

रे अजाण !

एक-एक कर के
कितने ही क़दम भर के ।
आई वायुलहरी ! हाश !
एक आस :
—भले ही न पहुँचा जाए घर,
स्थान-स्थान पर
चाहे रुकते, भटकते पथ भूलते थक जाऊँ,
फिर भी यदि मिले कहीं ऐसा एक श्रांतिस्थान—
जहाँ न हो जीवन का शोर-शराबा,
जहाँ बाधा न बनें आज-कल,
जहाँ घड़ी के विराम में
भूल जाना है सारी व्यथा,
और बना रहना स्वयं का सम्राट् ।

कौन रे ! तू कौन जा रहा ?
नहीं जानता तू यहाँ सींव में कौन घूम रहा ?
हूँ मैं यहाँ राजा,
माननी होगी यहाँ केवल मेरी ही आन ।
और, समीप आकर बोला प्रजाजन,
'सुनियेगा राजन् !
पूर्व में त्रिलोकसिंह;
उत्तर में फतहखाँ का देखियोजी ठाठरंग,
पश्चिम में खुशालभा की जागीर को नहीं कोई आँच ।
दक्खिन में दिलेर है, लेख लो ज़रा डुबो कर चोंच ।
बाद में रही नामवर सींव, आपकी, अहा !
बिना राज्य राजा
होने का इरादा आपका दिखाई देता बड़ा !
कहियेगा आपकी आन क्यों मानी जाए ?
अरे अनजान !

देखतो न आ पहाण ?
ए तमाम जागीरी,
तख्त ए ज,
भोम ए ज,
अंतहीन बिन्दु शी निसीम आ जहांगीरी.

'जी, वडी जहांगीरी.
कबूल, एक वार ना, हजार वार—लाख वार !
रे परंतु ए पहाण—
नी पूरी न आपने दीसे पिछाण.
त्यां हतुं विचित्र वृक्ष
ग्रीष्ममां न—छप्पनेय ना—थयेल जेह रुक्ष.
आभतारला रिझावी ढाळतुं ज वींझणा,
डाळडाळ पंखीमाळनां किलोलझूलणां.

त्यां हरेक साल टोळी एक जगली,
वर्षमां अचूक एक वार आ दशे वळी,
वृक्षने लळीलळी,
पायलागणां करी अनेक वार भेटती,
बाथमां लईलई ज नेणवारि सींचती.
—रे अमे भूलां पड्यां,
खंडखंड आथड्यां,
क्यांथी आम, बाप, आंहीं तुंय ते भूलुं पड्युं,
नड्युं तने अरे अमारुं भाग्य रे भूंडुं ?—

बार पेढीओ भला कहे छ के वही गई,
पुराण वृक्ष पारणे घडी रमी गई.
हवे कहुं पछीनी वात,

देखता नह यही पाषाण ?
यही तमाम जागीरदारी,
तख्त भी यही, भूमि भी यही,
अंतहीन बिन्दु-सी
नि:सीम यह जहाँगीरी ।

'जी, बड़ी जहाँगीरी ।
क़बूल है, एक बार नहीं, हज़ार बार—
लाख बार !
लेकिन इस पत्थर की
नहीं लगती आपको पूरी पहचान ।
यहाँ था विचित्र वृक्ष
ग्रो'म में भी—अकाल में भी
जो नहीं हुआ रुक्ष ।
सितारों को रिझाकर झलता जो व्यजन,
डाल-डाल पंछी के नीड़ के किलकभरे झूले ।

हर साल यहाँ एक टोली जंगली,
एक बार अवश्य इस दिशा में मुड़ कर,
वृक्ष को झुक-झुक कर प्रणाम करके
अनेक बार भेंटती थी,
अंक में भर-भर कर अश्रुजल स सींचती थो ।

—रे हम भूले पड़े,
खंड-खड भटके,
कहाँ से ऐसे तात, यहाँ तू भी भूला पड़ा.
हमारा दुर्भाग्य तुझ पर भी फला ?—
बारह पीढ़ियाँ, कहते हैं कि बह गई,
पुराने पेड़ के पालने में
घड़ीभर के लिए खेल गई ।
कहता हूँ अब पिछली बात—

एह्ने थई हशे पूरी न पेढी पांचसात.
ए महान वृक्षनी,
घरानुं मुख ढांकती,
विशाळ छांय व्यापती
प्रभातमां खुशालना गरासगाममां,
सांजने समे त्रिलोकसंग केरी सीममां.
बेय जागीरी वचे हतुं पुराणुं हाडवेर.
तेनुं ठारवा ज झेर,
युवित आ त्रिलोकना वडीलने सूझे.
कहे अहीं ऊंडो उरे पडेल घा रूझे,
विशाळ पेलु झाड जेह वेरीसीमनां
ढोर ने मनुष्यनां
ठारतुं ज बेसणां,
एह्ने उखेडी नाखुं तो ज माईपूत हुं !
तुर्त वेण मोकल्युं :
अमारी बापजागीरी महीं पडे छ कूडी छांय,
जातआबरू परे फरी वळे छ बूरी झांय.
अन्य साल आवियां मुसाफरो,
ठालवे कहीं जई भर्या उरो ?
गोती लावी प्हाण आ, पछी
समाधि वृक्षनी रचो.
(जमीनदारनेय सीमचिह्नी पीडा बची.)
ने मुसाफरो—बधांय जिंदगी-मुसाफरो—
देशदेश खंडखंड ए ज जेमनां घरो,
भूमिनी बिछात ने विशाळ आभछापरां,
मिल्कते कसायलां खुदा दोधेल बावडां—
एह्वां मुसाफरो,
घडीक आंहीं ठेरो ठालवी जतां हतां उरो

इसे न हुई होगीं पीढ़ी पाँचसात—
उस महान वृक्ष की
छाया विशाल फैलती,
प्रभात में खुशाल की जागीर के गाँव में,
शाम के समय त्रिलोकसिंह की सींव में।
दोनों जागीरों के बीच था पुराना सख्त बैर।

शान्त करने उसी का ज़हर
उस त्रिलोक के बुज़ुर्ग को सूझी युक्ति।
कहा : दिल में पड़ा गहरा घाव
इसी से भर जायेगा,
शत्रु की सीमा में वह विशाल वृक्ष
पशु और मनुष्य को
छाया का सुख देता,
उसे ही उखाड़ दूँ तभी मैं माईपूत !
तुरत संदेश भेजा :
हमारी जागीरदारी में पड़ती है बुरी परछाँई,
हमारी आबरू पर फैल जाती है सड़ी झाँई।

दूसरे साल आए मुसाफिर,
कहाँ रखें अपने भरे हृदय ?
खोज लाए यह पत्थर, और
वृक्ष की समाधि रची।
(ज़मींदार की भी सीमाचिह्न की चिंता टली)
और मुसाफिर—तमाम ज़िंदगी-मुसाफिर–
देश-देश खंड-खंड ही जिनके घर,
भूमि की बिछावन और विशाल व्योम-छप्पर,
मिल्कियत में सधी हुई खुदा की दीं बाँहें—
ऐसे मुसाफिर
जो घड़ी भर यहाँ ठहर रख जाते थे हृदय,

लेई वृक्षआशरो.
हवे न अन्य को विराम
ने हवे न आयखानुं अन्य कोई अश्रुठाम.
मात्र आ सूको पहाण.
ना नवीन लोकने रही हवे कंई पिछाण.
होय ! पेढीओ भला घणी घणी वीती गई.'

अने निशा-नी छांय शो निशामहीं
वृद्ध ए शमी गयो;
एक, एकलो ज हुं रह्यो.
हुं रह्यो न राजवी.
फरी थयो ज मानवी,
ना—रह्यो हवे न मात्र मानवी,
प्राणीमात्र मांही एक प्राणी हुं बनी रह्यो.
न त्यां ज थंभियो
स्थूल प्राणहीन जे गणाय ते बधायनो
अंग शो बनी रह्यो.
विश्व आ चराचरे
रेलता, असीम खेलता, महान प्राणनो
अंश शो श्वसी रह्यो.
देश ने दिशा तणी,
काळनी, कृतान्तनी,
चित्त, वित्त, मित्र, पुत्र, प्रेयसीतणी
ठेर ठेर घेर घेर सांकडी
तूटी बधीय सीम छोडी भोमव्योम,
ने श्वसी रह्यो असीम रोमरोम.

[१२-६-१६३५]

लेकर पेड़ का आसरा।
अब नहीं अन्य कोई विराम
और अब नहीं आयु का अन्य कोई अश्रुस्थान।
केवल यह सूखा पाषाण।
नये लोगों को न रही अब कोई पहचान।
और क्या ! भला, पीढ़ियाँ बहुत-बहुत बीत गईं।'

और निशा की छाया-सा, निशा में
वृद्ध वह समा गया;
एक, अकेला मैं ही रहा।
मैं रहा न राजा।
पुनः हो गया मनुष्य,
ना—रहा अब न केवल मनुष्य,
हो चुका प्राणीमात्र में मैं एक प्राणी।
न ठहरा केवल वहाँ,
स्थूल प्राणहीन जो कहलाता उस समग्र का
अंग-सा हो चला !
इस चराचर विश्व में
बहते, असीम खेलते, महान प्राण के
अंश की तरह स्वसित हो रहा।
देश और दिशा की,
काल की, कृतान्त की,
चित्त, वित्त, मित्र, पुत्र, प्रेयसी की,
स्थान-स्थान की, घर-घर की
टूटीं तमाम सँकरी सीमाएँ,
भूमि-व्योम छोड़ कर
श्वसित कर रहा
रोम-रोम से असीम को।

[१२-६-१६३५]

## कुतूहल

मुसाफरी गाडी विशे करंतां
जोयां कर्युं छे शिशु जेम, नानो
हतो शिशु त्यारथी कौतुके में
उघाडी बारी तणी आरपार.

समीपनां वृक्ष प्रतीप-वेगे
सरी जतां दष्टिसमक्षथी रे,
परंतु पेली क्षितिजे जणाती
साथे सरंती वनराजि बे घडी.

आयुष्यनी अल्प मुसाफरीमां
समीपनां जे स्वजनो सदा ते
सामी दिशाए सरशे शुं ? मात्र
साथे घडी लोकसमूह दूरना ?

[सप्टेम्बर १९३८]

## कुतूहल

यात्रा करते रेलगाड़ी से
देखा किया है मैंने, कौतुक से
शिशु की तरह, था मैं शिशु तब से,
खुली खिड़की के आरपार।

समीप के वृक्ष प्रतीप-वेग से
खिसक जाते दृष्टि के सामने से
किन्तु उस क्षितिज के पास दीखती
वनराजि
सरकती है साथ साथ दो घड़ी।

जीवन की अल्प यात्रा में
निकट के जो स्वजन,
क्या खिसकते रहेंगे वे सदा
विरुद्ध दिशा मे ?
और साथ रहेंगे घड़ी भर
केवल दूर के लोकसमूह ?

[सितम्बर १९३८]

## नखी सरोवर उपर शरत् पूर्णिमा

पेली आछा धूमस महींथी शृंगमाला जणाय,
नामी नीचां तटतरु चूमे मंद वारितरंग,
व्योमे खील्या जलउर झीले अभ्रना शुभ्र रंग;
सूतुं तोये सरउदरमां चित्र कांई वणाय.
वीचोमाला सुभग हसती ज्यां लसे पूर्ण चंद.
शीळी मीठी अनिललहरी वृक्षनी वल्लरीमां
सूती'ती ते ढळती जलसेजे मूके गात्र धीमां,
संकोरीने परिमलमृदु पल्लवप्रान्त मंद.

त्यां तो जाणे जलविधु तणा चारु संयोगमांथी
हृत्तंत्रीने कुसुमकुमळी स्पर्शती अंगुली को.
अर्धां मींच्यां नयन नमतां गान आ आव्यु क्यांथी ?
एकान्तोमां प्रकृति कवती मंजु शब्दावलि को.
एवे अंतःश्रुतिपट परे धन्य ए मंत्र रेले :
सौन्दर्यो पी, उरझरण पछी आपमेळे.

[ऑक्टोबर १९२८]

## नखी सरोवर पर शरत्-पूर्णिमा

झीने झीने धूमिल में दीख रही है वह शृंगमाला,
चूम रहे हैं नीचे, मंद वारि-तरंगों को नामी तटतरु,
ग्रहण कर रहा है जल का हृदय
नभ में खिले अभ्र के शुभ्र रंग,
सो रहा है सर-उर
फिर भी बुने जा रहे उस में कई चित्र ।
सुभग हँस रही वीचिमाला देख कर पूर्ण चन्द्र को,
वृक्ष की वल्लरी में सो रही थी जो
ठंडी-मीठी अनिल-लहरी
अब नीर की मृदु सेज पर ढल पड़ती है,
देकर नवजागृति परिमल-मृदु पल्लवप्रान्त को ।

ज्यों ही होता सलिल-शशि का चारु संयोग,
कोई कुसुम-कोमल अंगुलि देती हृ-तंत्री को स्पर्श ।
झुक जाते अर्धमीलित नयन,
कहाँसे आ-पहुँचा यह गान ?
कह रही प्रकृति एकान्तों में कोई मंजुल शब्द ।
ऐसे में अंतःश्रुतिपटल में जग उठता धन्य मंत्र :
'सौंदर्यों को पी, उर-निर्झर फिर स्वतः गायेगा ही ।'

[अक्तूबर १९२८]

## જ્ઞાનસિદ્ધિ

[એક વૈજ્ઞાનિકનું આત્મકથન]

પ્રયોગશાળા, મુજ ધૂન, ને હું.
ત્યાં બેસીને સૂની ગુફા મહીં મેં
ચક્રો નભોમંડળનાં ચલાવ્યા
ને ભૂમિના ભેદ અગમ્ય પામ્યો.
તત્ત્વો કર્યાં હાથ કંઈ નવાં નવાં
ને વિશ્વનાં ગુપ્ત બળોય નાથ્યાં.
સિદ્ધાન્ત જૂના કંઈ ફોક ઠેરવ્યા,
બીજા નવા ત્યાં નિપજાવી થાપ્યા.
કે અર્થહીણી જગની ક્રિયાઓ
સજીવ કીધી ગૂથી સત્યસૂત્રથી.
ને માનવીની ખીલવી મનીષા,
વિરાટદૃષ્ટિ અણુનેણમાં પૂરી.
લોકો વદ્યા : વિશ્વ નિગૂઢમાં શો.
ચલાવતો શાસન ચક્રવર્તી !

હુ ચક્રવર્તી ? મુજ કાર્યધૂનમાં
મળી ક્ષણે ના કદી એ વિચારવા.
ક્ષેત્રો ખૂલે દૃષ્ટિ કને નવાં નવાં
ને ચિત્ત દોડે રચતું નવાં ચીલા.

ઘડીકમાં કો નભકેતુ પૂઠે
અસીમની કેડી પરે જઈ ચડે.
બીજી ક્ષણે આંતરડાં ધરાનાં
વલોવતું ભીતર પામવા મથે.
ને ના મળી એક ક્ષણે વિચારવા,
કે વિશ્વનું શાસન હસ્ત મારે.

## ज्ञान-सिद्धि

[एक वैज्ञानिक का आत्मकथन]

प्रयोगशाला, अपनी धुन और मैं।
वहाँ सूनी गुफा में बैठ कर मैंने
नभ-मंडल के चक्र चलाये,
और भूमि के अगम्य भेद पाये।
कई नये-नये तत्त्व हथियाये
और विश्व के गुप्त बल नाथे।
जीर्ण सिद्धांत कई व्यर्थ सिद्ध किये
दूसरे नये वहाँ पैदा किये, स्थापे।
जग की कई अर्थहीन क्रियाओं को
सजीव बनाया गूँथकर सत्य-सूत्र से।
मानव की मनीषा खिला कर
परमाणुनेत्र में विराट दृष्टि भर दी।
लोग बोले : इस निगूढ़ विश्व में
कैसा चला रहा शासन चक्रवर्ती ?

मैं चक्रवर्ती ? अपनी कार्य-धुन में
नहीं मिला क्षण भी ऐसा सोचने को।
दृष्टि के आगे खुलते नये-नये क्षेत्र
और चित्त दौड़ता रचता हुआ नयी लीकें।

घड़ी में किसी नभकेतु के पीछे
असीम की पगडंडी पर जा चढ़ता।
दूसरे क्षण में धरा की आंतड़ियों को
बिलोता हुआ भीतर को पाने का यत्न करता।
क्षणभर भी नहीं मिला सोचने को कि
विश्व का शासन है मेरे हाथों में।

कह्युं जगे तो : प्रभु एक चालक,
प्रभुथी बीजो प्रभुनी लीला वधी
नाणीपिछाणी अमने जणावतो
विज्ञानी साचो अहीं तत्त्वशासक.
मने पूछो तो,—न गुमान लेखशो—
प्रयोग मारा अधूरापूरा जे
फळ्याटळ्या ते सहुमां कहींय में
ना तत्त्व दीठुं प्रभु नामनुं कदी.
मने परंतु प्रभुनी न ईर्ष्या.
के ना चहुं कैं प्रभुथी हुं रक्षा.
कोणे, प्रभुए अथवा वीजे रची
सृष्टि, मने ए परवा नहीं कदी.
हुं एटलुं जाणुं : मनुष्यने मळी
दीधी अमे जे कंई सृप्टि एटली.
फळो पडंतां तरुथी दीठां जने,
खूलेल को निद्रित केरी आंखथी
विज्ञानीए घेन उतार्युं त्यारथी
फळो द्रुमोथी पडतां थयां जगे.
विज्ञानहीणी हती ना-हती समी
सृष्टि, मने सर्जकनी न ईर्ष्या.
हुं क्षेत्र मारे वसतो अकंप.
अस्तित्वमां सत्य ज एक थंभ.
ए सत्य काजे न घडीय जंपवुं,
ज्वालामुखीना मुखमां प्रवेशवुं.
खूंदी रणो; भेदी वनो बिहामणां,
ढंढोळवां उन्नत शृंग अद्रिनां.
ने पेगडांमां स्थलकालने लई
ब्रह्मांकेरां तळियां तपासवां.

जग ने तो कहा : प्रभु है एक चालक,
प्रभु के बाद, प्रभु की सारी लीला
जाँच कर हमें जतानेवाला
यहाँ है विज्ञानी ही असल में तत्त्व-शासक।
यदि मुझसे पूछे—न मानता इसमें मेरा गुमान—
मेरे जो अधूरे-पूरे प्रयाग हैं—
फलित हुए या न हुए उन सबमें कहीं
मैंने प्रभु नाम का तत्त्व कभी नहीं देखा।
नहीं है किन्तु मुझे प्रभु की ईर्ष्या
या नही चाहता मैं प्रभु से रक्षा।

किस ने, प्रभु ने या और किसी ने रची हो
सृष्टि, मुझे इसकी कभी परवाह नही।
मैं इतना जानता हूँ कि मनुष्य को मिली
सृष्टि जितनी हमने उसे दी।
वृक्ष से फलों का गिरना देखा मनुष्य ने
खुली हुई किसी निद्रित की आँख से।
विज्ञानियों ने तंद्रा उतार दी
तब से जग में वृक्षों से फल गिरने लगे।
विज्ञानहीन सृष्टि थी न-होने जैसी
मुझे सर्जक से ईर्ष्या नही।
मैं अपने क्षेत्र में अ-कंप वसता हूँ
अस्तित्व में मेरे है सत्य ही एक स्तंभ।

इस सत्य-कार्य में एक घड़ी भी न ठहरना,
ज्वालामुखी के मुँह में प्रवेश करना,
रेगिस्तानों को रौंद कर, भयानक वनों को भेद कर
झकझोरने हैं अद्रि के उन्नत शृंग।
और पेंग में लेकर स्थल-काल को
जाँचने हैं ब्रह्मांड के तलवे।

सौ सत्य काजे. लगनी ज एक ए,
तमा कशी ना प्रभुनी, न कीर्तिनी.
आजे अरे ! आ ज गफा महींथी
शुं तत्त्व लाध्युं मुजने नवुं नवुं,
सौ पूर्वनां सत्य जूठां ठरावतुं,
भींजावतुं जीवनकार्य अश्रुमां !

प्रकाश जेने मनथी गण्यो हतो,
मानी मनाव्यो वळी अन्यने हतो;
अंजायला जेहथी लोकलोचने
हुं चक्रवर्ती क्षण बे ठर्यो हतो;
प्रकाश ए ना, पण अंधकार !
ए सत्य ना, निस्तल सूनकार !
ने जिन्दगीनी कपरी तपस्या
ए देवनी निष्ठुर को समस्या !

रे दूर था ज्ञान नवीन क्रूर !
तने दया ना मुज यातनानी.
जो जो ऊँचा कोरतकोट तूटे,
ने पात्र मारुं प्रतिभानुं फूटे !
प्रकाश जो होय, न तो नुं शाने
जूनां उथापी नव सत्य थापे ?
तुं तो बतावे करी अट्टहास्य
अंधारवींट्युं मुज पूर्वकार्य
आवे स्मृतिमांही महानुभाव ए
गेलीलियो वेठ्युं ज खूब जेमणे
आकार आ आपणी पृथ्वीकेरो
मानी स्वयं गोळ मनाववा जतां.
—अने कदी चोरस होत पृथ्वी
तो ए जते व्यर्थ शु यातनाओ ?—

सब कुछ सत्य के लिए; यही है एक लगन,
न प्रभु की, न कीर्ति की परवाह तनिक भी ।
आज अरे ! इसी गुफा में से कैसा
नया नया तत्त्व मुझे मिला,
पुराने सब सत्यों को झूठ सिद्ध करता हुआ,
जीवन-कार्य को अश्रु में भिगोता हुआ ।

जिसे मन से माना था प्रकाश
स्वयं मान कर, औरों को मनाया था,
जिससे चौंधिया गई लोगों की आँखों में
ठहरा था मैं चक्रवर्ती दो क्षण के लिए;
नहीं है वह प्रकाश, अंधकार है !
यह तो सत्य नहीं, है गहरा सूनापन !
और जिन्दगी की कठिन तपस्या
है दैव की कोई निष्ठुर समस्या !

रे नवीन क्रूर ज्ञान, दूर हो
तुझे नहीं है दया मेरी यातना पर ।
देखो देखो टूट रहे हैं ऊँचे कीर्ति-कोट
और फूटता यह मेरी प्रतिभा का पात्र ।
हो यदि प्रकाश, तो तू क्यां नहीं करता
पुराना हटाकर नया सत्य स्थापित ?
तू तो अट्टहास करके बताता है
अँधेरे में लिपटा हुआ मेरा पुराना कार्य ।
स्मृति में आये वे महानुभाव
गैलीलियो, जिन्होंने हमारी पृथ्वी का
आकार गोल स्वयं मान कर
और अन्य को मनाने में, खूब सहन किया ।
और अगर कहीं पृथ्वी चौकोर होती
तो वे यातनाएँ क्या व्यर्थ हो जातीं ?

दिक्काल ने मानवचित्त,—एनुं
सिद्धान्तमां तारव्युं में रसायण,
पीधुं घणे, जीरववा कर्युं वळी;
मने ज हा ! आज थयुं अपथ्य.

वाळी लउं ए भ्रम ने बचावुं
संसारने ए थकी, छो न हुं वचुं.
—मीठो परंतु भ्रम आम अन्यनो
रे तोडवो एय नवो न शुं भ्रम ?

शुं जाणवुं, आ मुज क्रूर शंका,
काळे करी एय ठरे नवो भ्रम !
संकेली, आवा भ्रमने अधीन थै,
शुं ढोळवुं जीवनकार्य शून्यमां ?—
अहो अहंप्रेम ! मीठी स्ववंचना !
क्यांथी सूझे आ गणितो ज कारमां ?
शा प्रश्न, रे शी दलीलो, शुं दंभो ?
शा तर्क, शी कीर्ति ? बस् एक सत्य.

तूटो, तूटो, सौ भ्रममाळ तूटो,
जूठा तूटो कीरतकोट सर्व.
तूटो भले सौ स्थलकालभींतडां,
के चित्त तूटो मुज विश्वमापतुं
परंतु पाया सतना तूटो ना;
ने भाविआशा लगीरे खूटो ना.

में जे गणी सत्य हतुं ज सार्व्युं,
ते छो गयुं फोक, न खालीहाथ हुं.
भूली, भमी, आखर मार्ग अंते
थै र्‌हेवुं निर्भ्रमित एय अमोघ ज्ञान.

[मे १९३५]

दिक्काल और मानवचित्त का खोंचा
मैंने सिद्धांत में रसायन
अनेकों ने पिया उसे और पचाने का यत्न किया।
केवल मुझे ही आज हुआ अपथ्य।

अब वापिस ले लूँ यह भ्रम, और
संसार को इससे बचाऊँ, भले मैं न बचूँ।
पर इस तरह अन्य का मधुर भ्रम तोड़ना—
यह भी क्या नहीं है एक नया भ्रम ?

कौन जाने, यह मेरी क्रूर शंका भी
समय बीतने पर सिद्ध हो नया भ्रम !
सब समेट कर इस तरह के भ्रम के अधीन होकर
क्या जीवन-कार्य शून्य में उँड़ेल देना है ?
अहो अहंप्रेम ! मीठी आत्म-वंचना !
कहाँ से सूझते ये भीषण ही भीषण गणित ?
कैसे प्रश्न, कैसी दलीलें, कैसे दंभ ?
कैसे तर्क, कैसी कीर्ति ? बस है एक सत्य।

टूटो, टूटो, सारी भ्रममाला टूटो,
सारे झूठे कीर्ति-कोट टूटो !
स्थल-काल की सभी क्षुद्र दीवारें टूटो।
टूट जाए चाहे विश्व को नापनेवाला मेरा चित्त भी !
परन्तु सत की नींव न टूटे
और भावी आशा ज़रा भी न कम हो।

जिसे मैंने सत्य जान कर अब तक निकाला था सार
वह भले व्यर्थ हो, पर मैं नहीं खाली हाथ।
भूल कर, भटक कर, आख़िर मार्ग के अन्त में
हो पाना निर्भ्रमित, यह भी है अमोघ ज्ञान।

[मई १९३५]

## लोकलमां

एनी दीठी न नजरे मुखमाधुरी में
देखात तो घणीय डोक फिरावतांमां;
जोयुं न किंतु फरीने जरी, ना ज जोयुं.
ने तोय ते क्षणक्षणे मुज अंतरे तो
ए सौम्यरेख रसमूर्ति तरे अनस्त.

एनां हशे प्रणयकामणपूर्ण नेण,
धीरे ढळी ऊछळतुंय हशे ज हैयुं.
दीठेल आ नयनथी न स्वयं अरे में,
तोये कहुं अमृतकोश हशे ज हैयुं
वेगीली लोकल तणा धबकार ताले
धीरे धीरे ऊछळी मस्त ढळी रहुंतुं.

हुं तो शुं जाणुं, पण सामी ज बेठके को
बेठेल वृद्ध; जरी फेरवी क्षीण नेत्र
जे आमतेम, कदी झोकुय खाई लेतो.
ए क्षीणलोचन महीं कहींथीय त्यां तो
में जोई, जोई सहसा भभूकंती आग.
आंखो करी जरठ कोटिक रोम केरी
टाळी मने मुज पूंठे कंई ताकी जोतो,
ने कें चिरंतृषित चक्षुथी पी रहंतो.

में पूंठ फेरवी न जोयुं स्वयं जरीके.
के कें हती जरूर ना.

## लोकल ट्रेन में

देखा नहीं अपनी आँखों मैंने उसकी मुखमाधुरी को
जो दिखाई देती अवश्य उस ओर मोड़ते ही चेहरा;
किन्तु नहीं देखा थोड़ा-सा घूम कर, देखा ही नहीं उसे।
फिर भी मेरे भीतर तो प्रतिक्षण अनस्त तैर रही
वह सौम्य-रेख रस-मूर्ति।

होंगे उसके प्रणय-मोहिनी-भरे नयन,
ढल कर धीरे, उछलता होगा हिया भी,
देखा नहीं इन आँखों से स्वयं मैंने
फिर भी कह सकता हूँ :
अमृतकोश ही होगा उसका हृदय,
जो वेगभरी इस गाड़ी की धड़कन-नाल मे
धीरे धीरे उछल कर मस्त ढलता रहता।

मैं तो क्या जानूँ, पर सामने बैठक पर
बैठा जो वृद्ध;
ज़रा फेर कर इधर उधर क्षीण नेत्र
ले लेता बीच में झपकी भी.
इतने में उसके क्षीण नेत्रों में पता नहीं कहीं से
मैंने देखी, देखी सहसा भभकती आग।
कोटि कोटि जरठ रोम की करके आँखें,
टाल कर मुझे अपनी ही ओट में,
ताकता रहता
और कितने ही चिर तृषित नेत्रों से पीता रहता।

पीठ फेर कर देखा नहीं मैंने तनिक भी
या नहीं थी ज़रूरत ही।

मुज आंख सामे
ए वृद्धनां परम तृप्त प्रसन्न नेत्रे
में एक जोई छबी डोलती लोल मस्त.

लावण्यमूर्ति मुज नेत्रथी जोई जाते
में होत, तेथी अदका रसरूपरंगे
ए कालजर्जरित नेत्र महीं निहाळी.
ने एक वार नीरखेल तहीं हजीये
जोयां करुं उर भरीभरी नेण एनां,
विश्वो उछाळी ढळतुं वळी मत्त हैयुं
ने बे वसंत लचती करवेल रम्य.

[सप्टेम्बर, १९३२]

## मौन

मारा अरे मौनसरोवरे आ
को फेंकशो ना अहीं शब्दकांकरा.
मारुं वींटाशे स्थिर प्राणपुष्प
तरंगनी वर्तुल शृंखलामां.

[ओगस्ट, १९३०]

मेरी आँखों के सामने
उस वृद्ध के परम तृप्त प्रसन्न नेत्रों में
मैंने देखी एक छवि डोलती मस्त कमनीय।

लावण्यमूर्ति को अपनी आँखों देख पाता मैं
जिस रूप में, उससे अधिक रस-रूप-रंग में
देखा उसे उन काल-जर्जरित नेत्रों में।
देखा उसे जहाँ एक बार,
अब भी रहूँ देखता, भर-भर कर हृदय
उसके नयन,
विश्वों को उछालता हुआ ढलता मत्त हिया,
और वसंत के लोच से भरी दो रम्य करवल्लियाँ,

[सितम्बर, १६३६]

## मौन

मेरे इस मौन-सरोवर में
मत फेंकना कोई शब्द-कंकरी,
लिपट जाएगा मेरा स्थिर प्राण-पुष्प
तरंग की वर्तुल-शृंखला में।

[अगस्त, १६३०]

## आत्मानां खंडेर

[सॉनेटमाला]

### १. ऊगी उषा

आयुष्यनी अणप्रीछी मधुप्रेरणा-शो
ऊगी उषा सुरभिवेष्टित पूर्व देशे,
आगंतुके पुरमहेलअगाशीओमां
ऊंचे रही नीरखी म्हालती पद्मवेशे.
ने टेकरीशिखर रंगपरागछायुं
प्रेरी रह्युं उरमहीं नवला ज भाव.
नीचे उछाळी जरी फेनिल केशवाळी
घुर्राटतो वितरी जोग पुराण सिंधु.

आगंतुके नीरखी टेकरी वींटी र्‌हेती
लीला शहेरतणी विस्तरती सुदूर;
ऊंचे सर्यो क्षितिजधुम्मस भेदी सूर्य.
कोलाहलो पुर तणा चगवा जता, त्यां
गर्जी रह्यो अतिथिनो पुलकंत आत्मा :
'आ भूमिनो बनीश एक दी हुं विजेता.'

[२-६-१९३५]

### २. अहम्

गुहा अंतर्केरी भरीभरी अहंघोष स्फुरतो,
जवा विश्वे व्यापी अदकी वधती आत्मनी व्यथा;
थतुं हैयाने जे स्थलस्थल कहुं मारी ज कथा,
प्रयाणार्थे घेलो कदम भरवा प्राण झूरतो.

## आत्मा के खंडहर

### १. ऊषा

सुरभि-वेष्टित पूर्व देश में
जीवन की अनपहचानी मधुप्रेरणा-सी
ऊषा उदित हुई।
देखा आगंतुक ने उसे
पुरमहल की अट्टालिकाओं में ऊँचे
पद्मवेश में विहरते।
रंग-पराग-रंजित पहाड़ी की शिखा
जगा रही हृदय में नए-नए भाव।
नीचे, उछाल कर ज़रा फेनिल अयाल
घुर्रा रहा बल बिखेरता पुरातन सिन्धु।

आगंतुकने देखी टीले से सटी हुई
सुदूर फैलती शहर की लीला।
क्षितिज के धुँधलके को भेद कर सूरज सरका ऊँचे।
नगर का कोलाहल उमड़ कर उठता ऊपर
तभी गरज उठे अतिथि के पुलकित प्राण :
'बनूँगा मै एक दिन इस भूमि का विजेता।'

[२-६-१९३५]

### २. अहम्

भीतरी गुहा को भर-भर कर स्फुरित हो रहा अहंघोष,
आत्मा की अदम्य व्यथा बढ़ती,
विश्व में व्याप्त हो जाने को।
चाहता हृदय कि कहूँ स्थल-स्थल निज कथा,
प्रयाण के लिए क़दम उठाने को व्याकुल पागल प्राण।

चहे अंगो मीठा सुमसुरभिना पुंज लचता,
अने शीर्षे वांछे मुकुट धरवा शृंग गिरिनां;
ऊडी ऊंचे, मूठी उडुनी भरीने माल्य रचवा
लघु चित्ते मोटा उरछलकता कोड मचता.

महा विस्तारो आ अमित विहरे कालस्थलना,
खचेला सौन्दर्ये, पण हु-विण सौ शून्य-सरखा.

अही ऊभीने में करी ज रचना भावि-भूतनी
अने मारा जोये स्थल सकलने जीवनी मळी.
हतु सौ : ए साचु ! हती पण खरी हुंनी ज मणा,
विना हुं ब्रह्माडे कवण करते विश्वरमणा ?

[६-६-१६३५]

३. सत्त्व-पुज

म्हेरामणो · गरजता अही मामसामे,
आ एक गेबी कई तालथी नर्तनारो,
हींचोळतो हृदयमा अणमूल रत्न,
उल्लसहासभर मेर्घापता समुद्र,
ने आ विराट वळो मानवसिंधु नित्ये
गर्जन, आटभरती मही मस्त, ल्हेरे
दे यंत्र ताल, अणथभ प्रवृत्तिगर्भे
छूपां कंई हृदयरत्न झुलावी र्‌हेतो.

झूकी शशांक नभमध्य छटाथी जेवो
आकर्षतो सुभग सायरवारि ऊंचे,
छीपो महीं मूकी जतो कदी मोती शुभ्र;

चाहते अंगांग कुसुम-सुरभि के मधुर लचीले पुज
और वांछा जगती
मुकुट-रूप मे धारण करने को गिरि-शृंग,
ऊँचे उड़ कर उडुगण को मुट्ठी मे भर कर माला रचने को;
लघु चित्त में उमड़ती छलकती बड़ी-बड़ी कामनाएँ !

काल-स्थल के ये सौंदर्य-मंडित महाविस्तार
विहरते हैं अमित,
पर मेरे बिना सब के सब शून्य से है ।

यहाँ खड़े-खड़े ही की मैने भावि-भूत की रचना,
और मेरे देखने पर हो उठे सकल स्थल जीवन्त,
सही है कि थे ये सब, किन्तु थी मेरी ही कमी.
बिना मेरे ब्रह्माड में करता कौन विश्व-रमण ?

[६-८-१९३५]

३. सत्त्व-पुंज

गरज रहे सागर यहाँ आमने-सामने :
इनमें एक यह कुछ रहस्यमय ताल से नर्तन करता,
सँजोये रहा हृदय में अनमोल रत्न,
उल्लास-हास से भरा मेघपिता समुद्र ।
और दूसरा यह नित्य गरजता विराट मानव-सिन्धु,
ज्वार-भाटे में मस्त लहराता,
सतत प्रवृत्तिगर्भ में छिपे
कुछ हृदय-रत्नों को झुला रहा;
यंत्र दे रहा ताल ।

झुक कर छटा से नभमध्य शशांक
सुभग सागर-जल को आकर्षित करता ज्यों ही ऊँचे,
रख जाता कभी सीपियों में शुभ्र मोती;

એવો મહા વિરલ પ્રેરક સત્ત્વપુંજ
સંક્ષુબ્ધ આ તરલ માનવરાશિ માગે,
કે કૈં કર્યે જીવન જાગી ચગે હુલાસે.

[૬-૯-૧૯૩૫]

## ૪. અશક્યાકાંક્ષા ?

મહત્ત્વાકાંક્ષાનાં વિવિધવર્ણાં મેઘધનુનો
છટા ફેલે ચક્ષુ રીઝવી, પજવી આત્મબળને.
તરે દ્રષ્ટિ સામે કણ થકી થયા મેરુ દ્યુતિના,
પૂરે સાક્ષી કૂડી અફર ઇતિહાસે સ્મૃતિ ભરી.
વિશાળે નાનો શો જગફલક ઇસ્કંદર ઘૂમ્યો
અને બાળે વેશે તખતતખતે બાબર રમ્યો,
ખરી વેળાની ગૈ ફરજ બજવી જોન કુમળી,
યુવાનીમાં શામ્યુ પણ વિઘન ના કીટ્સ-ઉરને.

શ્વસે મારે હૈયે પણ તણખ તે ચેતન તણી
સરી જે સૃષ્ટિની પ્રથમ પલકે, જે જળચરો,
વનોની સૃષ્ટિ ને ગિરિગિરિ ભમતાં પશુગણો
તણા પ્રાણે વ્હેતી, યુગયુગ ક્રમે વેગથી ધપી,
પ્રકાશી અંતે જે મનુજ રૂપમા ઉત્ક્રમવતી;
વિકાસીને આગે પ્રગટ બનું પ્રજ્ઞાપુરુષ હું.

## ૫. દે પયઘૂટ, મૈયા !

રાતેદિને નિશિદિવાસ્વપને લુભાવી,
દેતી ચીજો વિવિધ ને લલચાવી ભોળો,
રાખે મને નિજથી નિત્ય તું દૂર બાળ.

ऐसे ही माँगता है यह तरल मानव-सिन्धु
महाविरल प्रेरक सत्त्व-पुंज को
कि किसी तरह जीवन जग जाए,
उल्लासों में मँडराए।

[६-६-१६३५]

### ४. अशक्य आकांक्षा ?

महत्त्वाकांक्षा के विविधरंगी मेघधनुओं की छटा
फैलती, प्रसन्न करती चक्षु को, सता कर आत्मबल को।
दृष्टि के सामने तैरते द्युति के कण बनते मेरु,
दे रहे कुटिल साक्षी, अचल इतिहास की स्मृति जगा कर।

विशाल जग-फलक पर छोटा-सा सिकंदर घूमा,
और बाल वेश में तख्त-तख्त पर बाबर खेला;
ऐन मौके पर सुकुमार जोन ने फर्ज़ अदा किया,
युवावस्था में थम गया फिर भी विघ्न नहीं कीट्स के हृदय को।

मेरे हृदय में भी सांस ले रही है चेतन की वह चिनगारी,
जो सृष्टि की प्रथम पलक में ही गति पाकर
जलचर, वन-सृष्टि और पहाड़ से पहाड़ तक घूमते
पशुगण के प्राणों में बह रही,
युग-युग क्रम से वेग पाती बढ़ी,
उत्क्रमवती अंत में तो मनुज-रूप में प्रकाशमान हुई,
उसे विकसित कर, आगे बनूंगा मैं प्रज्ञापुरुष।

[२-६-१६३५]

### ५. दे पयघूंट, मैया !

रात दिन स्वप्न में—दिवास्वप्न में लुभा कर
तू देती है विविध चीजें, और रखती है
इस अबोध बाल को अपने से नित्य दूर।

तारा समी जननीये करशे उपेक्षा ?
शाने वछोडती, अरे ! नथी थावुं मोटा.
हुं तो रहीश शिशु नित्यनी जेम नानो.
नानो शिशुहकथी धावणसेर मागु,
ए दूधथी छूटी भ्रमे ज थवाय मोटा.

राते श्वसे धडक थाननी तेजगूथ्या
कमखा पूठे, वळी दिने रविहीरलो ते
अंबारतेज महीं छाती रहे छुपावी.
रे ! खोल, खोल, झट छोड विकासधारा,
ने ना पटाव शिशुने, बीजुं के न जो'ये
थाने लगाडो बस दे पयघंट, मैया !

[२६-८-१९३४]

६. कुञ्ज उरनी

श्वशे शृंगेशृंगे युगयुगतणा श्रान्त पडघा,
अने व्हेती ताजी झरणसलिले आदिकविता,
तळावोनां ऊंडां नयन भरी दे कालनो द्युति,
रचे बीडे घासे पवन घूमरीओ स्मित तणी;
द्रुमे डाळे माळे किलकिली ऊठे गीतझूलणां,
लता पुष्पे पत्रे मुखचमक चैतन्यनी मीठी;
परोढे संध्याए क्षितिजअधरे रंगरमणा,

तुझ-सी जननी भी करेगी उपेक्षा ?
क्यों बिछुड़ती, अरे, नही होना मुझे बड़ा।
रहूँगा मैं तो शिशु नित्य-सा नन्हा।
नन्हा मैं बालहृक मे दुधमुँहा बना रहूँगा,
इस दूध से छुट कर
भ्रम मे ही बड़ा होना है।

श्वसित होती है धड़कन स्तन की
रात में तेज-गुम्फित चोली के पीछे,
और दिन मे सूर्य का हीरा
तेज के अबार में छिपाता रहे छाता को।
री खोल, खोल शीघ्र छोड़ विकामधारा.
मत बहना शिशु को, और कुछ नही चाहिए,
बस छाती से लगा कर दे पयपूट, मैया!

[२६-८-१९३४]

६. कुंज उर का

शृंग-शृंग पर श्वसित होते युगों के श्रान्त प्रतिघोष,
और निर्झरजल में बहती अनछुई आदि कविता,
तालाबों के गहरे नयन भर देती है काल की द्युति,
रच रहा पवन घास के मैदानों में स्मिति की धुमरियाँ
पेड़ों की डाल-डाल पर नीड़ में
किलक उठते हैं गीतों के झूले,
लताओं के पुष्पों पर, पत्रों पर है
चैतन्य की मीठी मुखचमक।
प्रत्यूष में, संध्या समय, क्षितिज के अधर पर
होती रंगरमणा,

—मने आमंत्रे सौ प्रणय ग्रहवा विश्वकुलनो.
नहीं मारे रे ए प्रकृतिरमणीनां नवनवां
फसावुं रूपोमां. प्रणय जगने अर्पण कर्यो.
मनुष्यो चाहे के तदी अवगणे, कै न गणना.
रहुं राखी भावो हृदय मरभा, सौ मनुजना.
मने व्हाली व्हाली कुदरत घणी, किन्तु अमृते
मनुष्ये छायेली प्रियतर मने कुंज उरनी.

[२-६-१९३५]

७. अकिंचन

बेठो बझार जईने निजनी समृद्धि
खोई अकिंचन थवा. अहीं भावनानां
माचांजूठां धवल मोतीनी लूम रम्य.
ने आ परागभर पुष्प त्रूटेल कै जे
आ लोकना अनुभवो तणी कांटमांथी.
देजो क्षमा, नव गूथी ज शक्यो हु माला !
शोच्युं : थशे टपकती मुज अंगुलिथी
ए पुष्प सौ सुरभिहीण विवर्ण म्लान.

'रे वाह, तु अजब दंभी लूटावनारो !'
टोळामहीथी वद्यु को मुख राखी नोचुं.
'पेलु, कहे, छूपवी राख्युं कशुं कपाटे ?'
'हा. एय अर्पवु खरे,—अणबोट उर.'
सौये गयां वीखरी, आखर खोली बोल्यो :
पीजो, भलां पण न चंचुप्रहार देजो.

[२-६-१९३५]

—आमंत्रण देते सब मुझे
ग्रहण करने को विश्व-कुल का प्रणय।
नहीं उलझना है इस प्रकृति-रमणो के नये-नये रूपों में,
अर्पित किया प्रणय जग को।
मनुष्य चाहें या करें कभी उपेक्षा, चिन्ता नहीं,
सब मनुज के भावो को हृदय से लगाए रहूँगा।
बहुत प्रिय है प्रकृति मुझे, किन्तु प्रियतर है हृदय-कुंज
छाया है मानव ने जिसे अमृत से।

[२-६-१६३५]

७. अकिंचन

बैठा जाकर बाज़ार खोकर निज समृद्धि
होने को अकिंचन।
यहाँ भावना के
सच्चे-कच्चे धवल मोतियों की रम्य लड़ियाँ।
और ये परागभरे पुष्प, चुने गये है जो
इस लोक की अनुभव-कंटकस्थली में।
क्षमा कीजिए, मैं नहीं गूँथ सका माला।
सोचा : हो जाएँगे मेरी टपकती अंगुलि से
ये पुष्प सब सुरभिहीन विवर्ण म्लान।

'रे वाह, तू अजीब दंभी रहा लुटानेवाला !'
टोली में से बोला एक मुँह करके नीचा।
'कह दे, वह क्या छिपा रखा द्वार के भीतर ?'
'हाँ, वह भी अर्पित करना हो होगा—अनछुआ हृदय।'
सब बिखर गये, आख़िर खोल कर बोला :
पीना भले जन, पर चंचूप्रहार न करना।

[२-६-१६३५]

## ८. संतोष

टूको नजर आपणी, फलक दृष्टिनो ना टूको,
भले क्षितिजगोळ संकुचित लागतो पृथ्वीनो.
धरे दृग समक्ष फक्त मर डुंगरोथी वींटी
जमीन अतिथोडी गाउ दसवारना पथमां,
जमीन पण एटली धरी रहत शिशुवाथमां
खगोळ अरधो, छुपावतो निजांग जोके घण,
अने मनुजदृष्टि सामी भ्रमणे न ऊभतो स्वयं
बनावतां नभे अनंत रमणे चड्या तारला.

टूंक जगत ना. रचाई पथराय चोमेर जे.
भले नर न पृथ्वीसाथ नवखंड खूंदी शके.
जहीं स्थिर ऊभो तहीं जनस्वभावना कामनी
प्रकार बहुय, न हान सहुये वस्या, आग्र जो
अने हृदय, देशकाल विभिन्नना भावने
नजी, नजीक जे खडु नीरखी एह नेव घटे.

[ऑगस्ट, १९३२]

## ९. अनंत क्षण

गई क्यम गणुं क्षणो ? दिवस, मास, वर्षो वह्या
गणुं कई ज रीत ? सौ फरी फरी पडे जीववां.
नवां नययने जूना महींथी मूल्य लाधे नवां
अनेकविध जे थया अनुभवो बधा पूर्वना
लह्या नवलदर्शने नवलरूपमां ने वळी

## ८. संतोष

निगाह नहीं है छोटी हमारी,
छोटा नहीं दृष्टि का फलक भी,
भले ही पृथ्वी का क्षितिजगोला लगता हो संकुचित।
भले ग्रहण करते दृग सामने पहाड़ियों में लिपटी हुई
थोड़ी-सी जमीन दस-बारह कोस के पथ में.
इतनी-सी जमीन भी ग्रहण करते. शिशु-भुजाओं में
आधा खगोल,
निज अंग को यद्यपि वसन-सा छिपाए रहता,
और मनुज-दृष्टि को न दिखा कर निज भ्रमण
दिखाती वह अनन्त नभ में भ्रमणशील सितारे।

छोटा नहीं जग, [illegible] हो [illegible] चारों ओर।
चाहे मनुष्य एक साथ [illegible] न सके [illegible]
जहाँ खड़ा वह स्थिर, [illegible] में [illegible]
बहुत से प्रकार - शायद सभी तरह यदि हो दृष्टि।
और हृदय! देशकाल [illegible] की कामना छोड़ कर
निरख लेना उचित होगा उसे, जो खड़ा है निकट।

[अगस्त, १९३२]

## ९. अनन्त क्षण

कैसे मानूँ कि क्षण रहे नहीं ?
दिन, मास, वर्ष बह गए—कैसे मान लूँ ?
जीना पड़ता है उन्हीं सब को पुनः पुन.।
नये नयन को पुरातन में भी प्राप्त होते हैं मूल्य नये।
अनेकविध हो चुके पहले के जो अनुभव,
पाया उन्हें नये दर्शन में नये रूप में तथा

हृजीयनवतत्त्व कांई मळतां नवे रूप सौ
फरी अनुभवो उरे ऊतरशे, न आरो कहीं
अने फरीफरी रही जीववी ए पळो एम सौ.

पळो सकल आजनी गत पळोथी पोपाय, ने
जिवाय गत ए पळो सकल आजनीमां, अने
भविष्य तणी सौ क्षणो ऊतरी आज आशा...
समृद्ध क्षण वर्तमान करती, थती ने स्वय.
क्षण क्षण अनंत छे. नवनवे रूपे विस्तरी
प्रतिक्षण विशे स्फुरे अनुभवो त्रिकाळे भर्या.

[नवम्बर, १९३३]

१०. समय-तृषा

वरसभरमां वीत्या व्हाणा, शम्या पलकारमा,
नथी खबर के जाण्या माण्या पूरा उरब्हारमा।.
वरसभरना मध्याह्नो ने मीठी मधरात्रिओ,--
शु कहु ? सहुये आ हैये तो अजाण ज यात्रीओ.
अधीरपभर्या भावे पण मर्णा'तां वसतनी
नीरखी'ती नभे वर्षानीये मदे पदपंक्तिओ.
शरदसरमा दीठी हांडी सरत मयकनां,
पण कहीय ते आ हैयाने थयो नव स्पर्श को.

दिशदिश तणा आदर्शो,—त्यां स्वमूर्ति तपासु हु,
जगमगजना झंझावातो,—वींझाउ अशांत त्यां,
दलित उरना लावा,—न्हावा तहीं उर दोडिय,
समयनी सुरा, ढींच्ये राखी अहर्निश प्यालीमा.
फरी कहींयथी ऊगी जो तो नवी नभ को उषा,
फरी समयनी हैये जागे अदम्य चिरंतृषा.

[१९३६]

मिलने पर अभी कुछ नये तत्त्व नये रूप में
सब वे अनुभव उतरेंगे हृदय मे पुन., कोई चारा नही ।
जीना ही होगा पुनः पुनः उन सब पलो को ऐसे ही ।

आज के पल सकल पोमे जाते गत पलों मे
और जिये जाते विगत के सकल पल आज के पल मे ।
उतर आते सब भावी क्षण आज आशा का रूप लिये
क्षण वर्तमान को करते समृद्ध, होते स्वय भी ।
अनत है प्रत्येक क्षण ।
नये-नये रूप मे फैल कर
प्रतिक्षण स्फुरित होते है त्रिकालभरे अनुभव !

[नवम्बर, १६३३]

### १०. समय-तृषा

बीत गये सारे बरस के प्रभात पलक मे शमित हुए,
पता नही हृदय की वहार मे जिन्हे पुरा जाना या भोगा ।
सारे बरस के मध्याह्न, मधुर मध्यरात्रियाँ
क्या कहूँ—सभी इस हृदय मे तो अनजान यात्री-से ।
अधीरता भरे भाव मे वसन्त की गुनी थी वशी,
वर्षा की पदपक्तियों को देखा था नभ मे मद मे ।
देखा था मयक की नौका को सरकते शरद-सर मे ।
किन्तु न हो पाया इस हृदय का कहीं भी स्पर्श ।

दिश-दिश के आदर्शों मे स्वमति को खोजता हू,
विश्वचित्त के झझावतो मे भ्रमता अशात उड़ता हूँ,
दलित हृदय के लावा मे भीगने को दौडा है हृदय,
समय की सुरा पीता रहा बेहद, अहर्निश की प्याली मे ।
देख तो, कहाँ से उग आयी नभ मे पुनः कोई नयी ऊषा ।
जगती है हृदय में पुनः समय अदम्य की चिर-तृषा ।

[१६३६]

## ११. आशा-कणी

निराशानां क्षेत्रे करवी लणणी आशकणनी,
अने गोती र्‌हेवी जड ढग मही चेतनकणी,
छटा माया केरी महींथी सतनी झांखी चह्‌वी,
जनो वांछे घेला; जीवनतणी आ ते शी मदिरा !
क्युं अन्ये ते कां नव करी अरे हु पण शकु ?
पताका कीर्तिनी क्यम न फरकावी हुय शकु ?
परंतु घेराया समय तणो एवी भींस मही
अनिच्छाए जागे रुदन, मुख ज्यां जाय हमवा.

प्रवातो वैरोना रुधिर उरनुं झेर करता,
प्रवातो दोषोना जीवतर भरी घोर दवना.
असिद्धिना डंखो, प्रणय अणमाण्या दमी रहे.
मनुष्यो तोये रे शत वरस शे जीववुं चहे ?
अशक्ति आत्महत्यानी एने आशा कहे जनो;
मृत्युथी त्रामता तोये जिंदगी अर्क मृत्युना.

[२-९-१९३५]

## १२. मृत्यु मांडे मीट

मृत्यु मांडे मीट सुखद लेवा संकेली
विश्वकुंज जगडाळ मचेली जीवनकेली.
पुनर्जन्मनु पुण्य प्हरोड हवे तो फूटशे,
दिव्य उषानी पुनित पीरोजी पांख पसरशे.
रचतुं एवा तर्क कैक हैयुं उल्लासे.
हशे जीवानु अन्य पंथ को नवा प्रवासे.
फरी सफरआनंद तणी ऊडमे वळी छोळो.
विचारी एवुं मृत्युदंश करु शे मोळो ?

## ११. आशा-कणी

निराशा के खेतों में करनी है लुनाई आसकण की,
जड़ ढेर में खोजते रहना है चैतन्य-कणिका,
माया की छटाओं से चाहना सत्य की झाँकी को,
कामना करते अबूझ लोग,— जीवन की यह कैसी मदिरा !
अन्य ने जो किया, मैं भी क्यों न कर सकूँ ?
कीर्ति की पताका मैं भी क्यों न फहरा सकूं ?
किन्तु घिरे हुए हैं समय के ऐसे कुटिल चाप में
कि मुख हँसना चाहे, और जग जाए अनिच्छा से रुदन !

वैर के प्रवात हृदय के रुधिर को कर देते जहरीला,
दोषों के प्रपात ज़िन्दगी को भर देते,
सताते घोर असिद्धि के डंक,
अनभोगे प्रणय कर रहे दमन ।
फिर भी क्यों चाहते मनुष्य शत वर्ष जीना ?
अशक्त आत्महत्या की— कहते हैं लोग उसे आशा,
त्रास पाते मृत्यु से, ज़िन्दगी है मृत्यु के अंक से भरी ।

[२-६-१६३५]

## १२. ताक रही मृत्यु

ताक रही मृत्यु समेट लेने
विश्व-कुंज की जग-डाली पर प्रफुल्ल सुखद जीवनकेली को ।
पुनर्जन्म का पुण्य प्रभात अब तो फूटेगा,
दिव्य ऊषा के पुनीत फ़िरोजी पंख फैलेंगे ।
हृदय कर रहा ऐसे तर्क उल्लास से
जाना होगा अन्य पंथ किसी नये प्रवास को ।
फिर से उठेंगी लहरें यात्रा के आनन्द की
सोच कर ऐसा, करना चाहता क्या मैं मृत्युदंश को मंद ?

शाने भीषण मृत्युमुखे अर्पवी कोमलता ?
विद्युद्वल्ली होय कथवी शाने पुष्पलता ?
आव, मोत, संदेश बोल तव घर्घरनादे,
नहीं न्यून, वधु भले, रुद्र तव रूप धरीश तु
वक्रदत अतिचंड घमंडभरेल विषादे
मुख उघाड तुज, शातचित्त तव दंत गणीश हु.

[ऑगस्ट, १६३०]

## १३. निशापंथ

थाक्या काने स्वर मृदु पड्यो : आव रे आव चाल्यो.
थाक्या देहे फरी शरू करी आखरी एक यात्रा
तरांतेजे चमकी नलचावी स्फुरे वीचिमाला,
तेडा मीठा गणी जलनिधिनो निशापथ झाल्यो.
अश्रु द्वारा जीरवी जगने पाठवे वारि मीठा,
सिन्धु, तारा जीवनव्रत मे अन्य कयाये न दीठा.
आही लोके लखलख जनोमाय एकाकी रहेवु;
मृगामृगा महन करवु, ना हयानेय कहेवु.

मारे माटे अणखूट पड्या वारिमेदान मोटा,
सिन्धु तारे जलतल मूकु कायनी नावडी आ.
तारे ऊडे जलतल पूरु छु, सही रे तु लेजे,
गाथा कूडी जगनी, अमृतावी फरा पाछी देजे.

त्यां तो काया फगवी हडसेली तरंगो पुकारे :
जा रे तारे जग, उभयथी के न संबंध मारे.

[६-६-१६३५]

भीषण मृत्यु-मुख को क्यो अर्पित की जाए कोमलता ?
विद्युद्वल्ली को क्यो पुष्पलता कहके पहचानूं ?
आ, मृत्यु, तू आ, कह दे अपना सदेश घर्घर घोष से,
नही न्यून, भले ही अधिक, धारण कर तू अपना रुद्र रूप,
वक्रदत अतिचड घमडभरे विषाद से,
खोल तू अपना मुँह, शान्तचित्त गिनूँगा मै तेरे दन्त ।

[अगस्त, १६३०]

## १२. निशापंथ

थके कानो पर आ पडा एक मृदु स्वर— आरे, चला आ।
थकी देह ने पुन शुरू की आखिरी यात्रा ।
तारकतेज मे चमकती वीचिमाला
स्फुरित होती लुभा कर,
मधुर निमन्त्रण जलनिधि का मान कर ग्रहण किया निशापंथ ।
खारे आसू सह कर जग का भेजता मधुर जल,
सिन्धु, तेरे जीवनव्रत सा मैने नही देखा अन्यत्र ।
यहा लोक मे लघ्वाधिक के बीच भी एकाकी रहना,
चुपचाप सहन करना, दुवा ना भी न कहना ।

मेरे लिए, अखूट पड़े बड़े वारि मैदान,
सिन्धु, तेरे जल की सतह पर रखता हूँ
काया की यह नौका ।
तेरे गहरे जलतल मे भर रहा हूँ जग की कुटिल गाथा,
सह लेना उसे तू, पलट कर अमृत मे देना पुन ।

उसी समय काया को झिडकती धकेल देती पुकारती तरग
जा रे अपने जग,
मुझे नही कोई वासना तुझ मे, तेरे जग मे ।

[६ ६-१६३५]

## १४. बिचारो मनुज

करी यत्नो कोटि गगन चूमता म्हेल रचिया,
पछी छो ए काजे जीवतर बधुं रोळ्युं धूळमां.
नवा म्हेले ज्यारे अवसर मळ्यो वास वसवा,
तहीं तो प्राणोना जीरण ज हता म्हेल तूटला.
रगो खेंची खेंची नवल करी सूरो जगववा,
महा आयासोथी अजब मज्यां वाजित्र उरनां.
सुण्यानी वेळाए बधिर बनीने मूर्छित समो,
सदानो आत्मा तो शतशत हतो जोजन पळ्यो.

महावज्राघाते हृदयजडिमा तोडी, झरण
वहाव्युं तो होंसे, प्रबळ पुरुषार्थ, पण बधुं
मुकाई एवुं तो रण सम थयुं जीवन हतुं.
फट्युं एवुं वयाये झरण कुमळुं लूण [illegible]
बिचारो निचोवे मनुज विधिना [illegible] असथो,
तृषा [illegible] मृगजळनीने [illegible] भ्रमणा

[६-६-१९३५]

## १५. वृद्धजन भला

तमे उल्लासोनी, मीठीमीठी करो प्रेरक कथा,
युवानीलीलाना सतत वजवो शौर्यबणगा,
बुढापा पच्चीसे जगहृदयना, ने न नीरखो;
अने सद्भागीना शिशु रमकडे राची ज रहो.
प्रतापोनी गाथा रुधिरधबके पूरी, उरने
तमे आमन्त्री छो रजनिदिन आनन्द चूमवा,
सुखे भूलो भोळां रगरग भरीने धगी रह्यो
महाग्नि मृत्युनो, जग सकल जेणे कवल-शुं.

## १४. बेचारा मनुज

कोटि यत्न करके रचे गगनचुंबी महल,
भरे धूल में मिलाया उनके पीछे सारा जीवन
जब मौका मिला नए महल में बसने का
तब तक तो प्राणों के जीर्ण महल थे टूटने का ।
रग खींच खींच कर, कुछ नए सुर जगाने को
बड़े आयासों से उर का अजस्र बाजा बजाया,
सुनने के क्षण बधिर बन कर मूर्च्छित-सी सदा की आत्मा
जा चुकी थी शत-शत योजन दूर ।

वज्राघातों से हृदय की जड़ता को तोड़ कर
होम में बहाया झरना, प्रबल पुरुषार्थ से, पर
सूख कर हो गया रेगिस्तान-सा सारा जीवन कि
फूटते ही लुप्त हो गया कोमल झरना कहीं ।
बेचारा मनुज पेर रहा विधि की रेत को यों ही,
वृथा यत्न में खो रहा मृगजल की रम्य भ्रान्ति भी ।

|६-६-१९३५|

## १५. मृगजल

कह रहे आप उल्लासों की मीठी-मीठी प्रेरक कथाएं,
यौवन-लीला के नाम सतत बजाते रहे शौर्य के नरसिंघे,
पच्चीस पर ही बुढ़ापा जग-हृदय का—देखते नहीं,
और किसी सद्भागी के शिशु खिलौने में मगन रहते ।
प्रतापों की गाथा रुधिरस्पंद में भर कर,
हृदय को न्योता देते आप निश-दिन घूमने को अनत में,
चैन से भूल जाते भोले लोग कि रग-रग को भर कर
धधक रही मृत्यु की महाग्नि, जिसके लिए
है सारा जग कौर-सा ।

अह् केरुं मागो जड थकी ज निर्लोपन नमे,
शिखावो निस्पूफी जोरवी न स्वयं, अन्य उदरे
दवा तेजाबोनी दरद वणजोये ज ठलवो,
अह् क्यानो ? शाने ?—प्रथम ऊचरो, लोप पछीथी.
असत् आनदोनी परब रची व्हेंचो न मदिरा,
भला शोकप्रर्या दृगजल यथार्थे विहरता.

[६-६-१९३५]

### १६. अफर एक उषा

ऊगी ऊगी अफर एक उषा नमेरी
छाती हती टपकती रुधिरे निशानी
ने पाथर्या कबर पे कर्दा हाय एवा
फिक्का हता मरणम्लान उडुगणो सौ
वेराय चित्तक्षितिजे थकी धुम्मसे ने
रगे भरी जवनिका सरी पापणेथी.
त्या टेकरी फरत दश्य श ठेरठर ?
रे क्या गई प्रथमनी जनता विराट ?

आत्मा तणा अरधभग्न ऊभेल अर्धा
खडेरनी जगपटे पथराई लीला.
ने छाडीने जयमनोरथ, को घवाया
पखी समु उर लपाई कहीक बेठु
खडेरनी करुणभीषण गातु गाथा,
ने गोततु अफळ गान मही दिलासा.

[९-९-१९३५]

माँग रहे जड़ से ही आप अहं का निर्लोपन,
सिखा रहे फ़लसफा ग्रद न सह कर,
डाल देने अन्य उदर में तेजाब की दवा,
बिना देखे ही दर्द।
अहं कहाँ का ? क्यों ?—कहिएगा पहले,
लोप उसका बाद में।
असत् आनन्दों के प्याऊ बना कर मत बाँटिए मदिरा,
इससे कहीं अच्छे हैं शोक-प्रेरित दृग-जल
विहरते रहने पर यथार्थ में।

[६-६-१६३५]

१६. अटल एक ऊषा

उग आई अटल एक निर्दय ऊषा।
टपक रही थी रात की छाती रुधिर से
और बिछाए गए हों ज्यों कब्र पर
फीके थे मृत्युम्लान सब उडुगण।
कट गया कोहरा सारा चित्त के क्षितिज पर से
और रंग-भरी जवनिका खिसक गई बरौनी मे।
वहाँ क्या है सर्वत्र
टीले के आसपास का दृश्य ?
अरे, कहाँ गायब हो गई पहले की विराट जनता ?

आत्मा के अर्धभग्न खड़े आधे खण्डहरों की
जगपट पर छाई है लीला।
छोड़ कर विजय के मनोरथ,
किसी आहत पंछी-सा हृदय बैठ गया कहीं दुबक कर,
गाता हुआ खण्डहरों की करुण भीषण गाथा,
और खोज रहा इस अफल गान में सांत्वना।

[६-६-१६३५]

## १७. यथार्थ ज सुपथ्य एक

न राव, फरियाद ना, फिकर ना, अजंपाय ना,
न के प्रबल कोई सत्त्व थकी शक्तिनी याचना.
न घेली लगनीय वा गगनचुंबी आदर्शनी
भमावती असत्यचक्र रची रम्य भ्रान्ति तणां.
जगे दुरितलोपनी उर अशक्य ना वांछना,
न वा धगश सृष्टिना सकल तत्त्वसंमर्शनी;
डगेडग वधारती वज्रनशृंखला कालनी
दमेदम पधारती निकट शाश्वती यामिनी.

न शांति- -चितसौख्य—काज जग इहोळवां मंथने,
भरी यदि अशांति चोगम समुल्लसंती ज तो.
मने असुख ना दमे वितथ सौख्य जेवां कठे;
सुखो न रुचतां, यथा समजमांही ऊतर्या दुखो.
यथार्थ ज सुपथ्य एक, समज्या जवु शक्य जे.
अजाण रमवुं कशुं ! समजवु रिबाईय ते.

[६-६-१९३५]

१७. **यथार्थ ही सुपथ्य एक**

नहीं बिनती, न फ़रियाद, न फिक्र, नहीं बेक़रारी,
या नहीं किसी प्रबल सत्त्व से शक्ति की याचना।
रम्य भ्रान्ति के असत्यचक्र जगा कर भटकानेवाली
गगनचुम्बी आदर्श की पागल लगन भी नहीं।
जग से दुरित-लोप की अशक्य अभीप्सा भी नहीं,
सृष्टि के सकल तत्त्वविमर्श की उत्सुकता भी नहीं।
पग-पग बढ़ाती वजन काल की शृंखला,
साँस-साँस निकट आती यामिनी शाश्वती।

शांति के लिए, चित-सौख्य के लिए
मंथन में नही ढँढोलना जग को,
यदि उमड़ती हो चारों ओर उल्लास से अशान्ति।
असुख नहीं दमते मुझे जितने कि वितथ सौख्य चुभते,
नही रुचते सुख, जैसे रुचते हैं समझ में उतरे दुःख।
यथार्थ ही सुपथ्य एक, समझते रहना यथाशक्य।
अनजान रमना क्या! यातना के मोल भी समझना ही इष्ट।

[६-६-१६३५]

## देशवटो

आश्चर्य मोटुं मुजने, ठगाई
आ हंसलो घटमहीं झट शे पुरायो !
न जाणशो के डरुं जिन्दगीथी
जेने जनो कलह नाम दई नवाजे.

सौ मर्त्यने भमवुं जन्मथी मृत्यु सुधी.
हुं मृत्युथी जनननो नवपंथ शोधुं.
भम्यां कर्युं छे वळी ने भमीश
पृथ्वी परे देशवटे गया समो.

[जान्युआरी, १९३५]

## देश-निर्वासित-सा

अचरज मुझे बड़ा
कि ठगा जाकर यह हंस
घट में झट कैसे आ बँधा।
न मानो कि डरता हूँ ज़िन्दगी से
जिसकी नवाज़िश करते लोग
देकर उसे 'कलह' नाम।

भटकना हरएक मर्त्य को जन्म से मृत्यु तक।
मैं खोजूँ मृत्यु से जन्म तक का नवपंथ।
भटकता रहा हूँ, अभी भटकूँगा और
पृथ्वी पर, जैसे देश-निर्वासित हुआ स्वयं।

[जनवरी, १९३५]

## मानवीनुं हैयुं

मानवीना हैयाने नंदवामां वार शी ?

अधबोल्या बोलडे,

थोडे अबोलडे,

पोचा शा हैयाने पीजवामां वार शी ?

स्मितनी ज्यां वीजळी,

जरी शी फरी वळी,

एना ए हैयाने रंजवामां वार शी ?

एवा ते हैयाने नंदवामां वार शी ?

मानवीना हैयाने रंजवामां वार शी ?

एना ए हैयाने नंदवामां वार शी ?

२८-१०-१९३७

## मनुष्य-हृदय

मनुष्य के हृदय को तोड़ने में देर क्या ?
अधबोले बोल से
थोड़े अनबाले से
कोमल हृदय को पीजने में देर क्या ?
स्मित की बिजली
जरा सी कौंध जाने पर
उसके उसी हृदय को रंजने में देर क्या ?
ऐसे हृदय को तोड़ देने में देर क्या ?
मनुष्य के हृदय को रंजने में देर क्या ?
उसके उसी हृदय को तोड़ देने में देर क्या ?

[२८-१०-१९३७]

## गाणुं अधूरुं

गाणु अधूरु मेल्य मा,
'ल्या वालमा,
गाणु अधूरु मेल्य मा
हैये आयेलु पाछु ठेल मा,
'ल्या वालमा,
होठे आयेलु पाछु ठेल मा. गाणु अधूरु··

हैया सगाथे भूडा खेल मा,
'ल्या वालमा,
भोळा सगाथे भूडु खेल मा. गाणु अधूरु ···

ओरा बोलावी धकेल मा,
'ल्या वालमा,
छातीथो छेटा धकेल मा गाणु अधूरु ··

छातीथी छेटा मेल मा,
'ल्या वालमा,
हैया सगाथे भूडा खेल मां.
गाणु अधूरु मेल मा
'ल्या वालमा,
होठे आयेळ पाछु ठेल मा.

[सप्टेम्बर १९३६]

## गीत अधूरा

हे प्रिय,
मत छोड़ गीत अधूरा।

हृदय तक जो आ पहुँचा
उसे पीछे मत ठेल,

हे प्रिय,
होंठ तक जो आ पहुँचा
उसे पीछे मत ठेल।

मत खेल हे ढीठ हृदय के साथ,
भोलों के साथ बुरा मत खेल,
बुला कर निकट मत दूर धकेल
छाती से दूर मत धकेल।

हे प्रिय,
छाती से दूर रख छोड़ मत,
हृदय के साथ हे ढीठ मत खेल।

हे प्रिय,
मत छोड़ गीत अधूरा।
होंठ तक जो आ पहुँचा
उसे पीछे मत ठेल।

[सितम्बर १९३६]

## 'विश्वशान्ति' से

## 'विश्वशान्ति' मांथी

### १ मंगल शब्द

त्यां दूरथी मंगल शब्द आवतो !
शताब्दीओना चिरशांत घुम्मटो
गजावतो चेतनमंत्र आवतो !

प्रकाशना धोध अमोघ झीलती
धपे धरा नित्यप्रवासपंथे;
झूमी रही पाछळ अंधकारनी
तूटी पडे भेखड अर्ध अंगे.

विराट खोली निज तेजआंख
कल्याणनो मंगलपंथ दाखवे;
ए तेज पीने निज सृष्टि खीलती
जोती घडी, ए वधती उमंगे.
अंगे लगाव्या हिमलेप शीळा,
ज्वालामुखी कितु उरे ज्वलंत !
मैया तणे अंतर शुं हशे पीडा ?
के सृष्टिचिंता उरमां अनंत ?

विश्राम काजे विरमे नही जरा,
अकथ्य दुःखे अकळाय हैडे !
उच्छ्वासथी वादळगोट ऊडे,
ने दूर फेले जलनील अंचळा !
भमे भमे दुःखतपी वसुंधरा !
डगो भरे तेजपथे अधीरां !
ए तोय पूरा न थया प्रकाश !

## 'विश्वशान्ति' से

### १ मंगल शब्द

आ रहा दूर से मंगल शब्द इतने मे !
शताब्दियों के चिरशांत गुंबदों को
गुँजाता हुआ आ रहा चेतन-मंत्र !

ग्रहण करती हुई प्रकाश के अमोघ प्रपात
बढ़ती आगे धरा नित्य प्रवास-पंथ मे;
पीछे झूमती हुई अंधकार की कगार
टूट पड़ती है आधे अंग पर ।
खोल कर अपनी तेज आँख
विराट दिखा रहा कल्याण का मंगल पथ,
पीकर उस तेज को खिलती हुई
निज सृष्टि को देख लेती घड़ीभर
और आगे बढ़ती वह उमंग से ।
लगा लिये हैं देह पर शीतल हिम-लेप
किन्तु हृदय में दहक रहे हैं ज्वालामुखी !

मैया के भीतर क्या पीड़ा होगी ?
या उसके हृदय में होगी अनंत सृष्टि-चिंता ?

रुकती नही विश्राम के लिए ज़रा भी,
अकुलाती हृदय में अकथ्य दुःखों से !
उच्छ्वास से उड़ती बादल-घटाएँ
और दूर फैलते जलनील ओढ़ने !
भटकती है दुःख से तप्त वसुंधरा !
उठाती है तेजपथ पर अधीर क़दम !
फिर भी पर्याप्त न हो पाए प्रकाश !

अंधारमां आथडी भूतसृष्टि !
आ रक्तरंगी पशुपंखी प्राणी
पुकारता सौ नखदंतनाश.
ने लोही पीने ऊछरेल घेली
आ लाडीली मानवता धरानी
इतिहासनी भूलभुलामणीओ
रचे, अने कें जगवे लड़ाईओ.
भोळी स्वहस्ते निज अंग चीरे
ने भींजती आत्म तणां रुधिरे.
जळ्यां करे चोदिश कोटिक्लेश !
शमे न ए आग अबूझ लेश !
को सिंचता जीवनवारि संत
तोये रहे पावक ए धगंत !
पेगाम दैवी पयगबरो बद्या,
शमी न ए भीषण विश्ववेदना !

त्या दूरथी मगल शब्द आवतो !
युगो तणी कैंक पडी कतार
आवे ध्वनि एहनी आरपार :
'न पाप साथे नव पापी मारतो !

ए मत्र झील्यो जगने किनारे
ऊभेल योगीपुरुषे अनेके,
आरण्यकोए, ऋषिमडलोए,
सुणेल बुद्धे, ईशुए, महावीरे.
न तोय निद्राजड लोक जाग्या
डूबी गयो मत्र अनततामां !

ए आज पाछो ध्वनि स्पष्ट गाजतो

अंधकार में भटक पड़ी भूतसृष्टि।
ये रक्तरंगी पशु-पंखी प्राणी—
पुकारते सभी नखदंतनाश।
और लहू पीकर बड़ी हुई जो पागल,
धरा की लाड़ली यह मानवता
रचती है इतिहास की भूल-भुलैयाँ,
और जगाती है कितनी ही लड़ाइयाँ।
भोली यह, चीरती है अपने ही हाथों निज अंग
और भींगती है अपने ही रुधिर से।

लहकते रहते चहुँदिशि कोटि क्लेश।
नही होती शान्त यह अबूझ आग लेश भी।
सींचता है कोई सत जीवनवारि
फिर भी दहकता रहता वह पावक।
कहे पैगाम देवी पैगवरों ने,
न हुई शान्त यह भीषण विश्ववेदना।

आ रहा दूर से मंगल शब्द इतने में,
युगों की पड़ी कई कतारों के आरपार होती
आ रही है आवाज़:
'पाप के साथ न मारना तू पापी को।'

ग्रहण किया यह मंत्र
जग के किनारे खड़े अनेक योगीपुरुषों ने,
आरण्यकों ने, ऋषिमंडलों ने;
सुना उसे बुद्ध ने, महावीर ने, ईसा ने,
न जागे फिर भी निद्राजड़ लोग,
डूब गया मंत्र अनंतता में।
वही ध्वनि स्पष्ट गूंज रही पुनः आज,

आ युद्धथाक्या जगने किनारे.
गांधी तणे कान पड्यो, उरे सर्यो,
ने त्यां थकी विश्व विशाळ विस्तर्यो

युगोयुगोनी तपसाधना फळी !
जरी महा अंतरवेदना शमी !!

मासे मासे, अभिनव हासे,
ऊगे बीजकला,
युगे युगे पयगवर जागे
भागे जग-शृंखला.

२ जीवननो कलाधर

युद्धदावानळे दाझ्या, तपेला पृथिवीतले,
अमी वर्षावनी शीळी कोनी आ पगली पडे ?

पुण्यो फल्या भारतनां प्रजाना !
अहो ! महा भाग्य वसुधराना !
उलेचवा पाप युगो युगोना
शु ऊतरी मूर्तिमती अहिंसा ?

अणथीये पिलावानी छे हैयामां विनम्रता,
सुदामा-नरसैयानी माणवी छे दरिद्रता

अजातशत्रु, स्थितप्रज्ञ, सौम्य,
झगी रह्या ब्रह्मचर्ये ज ब्रह्म
निष्काम चर्या नीरखी तमारी
प्रत्यक्ष गीता जीवती निहाळी.

युद्धसे थके इस जग के किनारे।
गांधी के कान पड़ी वह, पहुँची हृदय में,
और वहाँ से विस्तार पाया उसने
विशाल विश्व में।

युगों की फली तप साधना !
शमित हुई कुछ महा-अंतरवेदना !

उगती है दूज-कला प्रतिमास
लिये हुए अभिनव हास,
जागते हैं पैगंबर प्रतियुग,
तोड़ते हैं जग-शृंखलाएँ।

## २. जीवन का कलाधर

युद्ध-दावानल से दग्ध, तप्त पृथ्वीतल पर,
शीतल अमृत-वर्षा करते ये किसके पड़ रहे चरण ?

फले पुण्य भारत की प्रज्ञा के !
अहो ! महाभाग्य वसुन्धरा के !

उलीचने को युगों के पाप
उतरी है क्या मूर्तिमती अहिंसा ?
परमाणु द्वारा भी पीसे जाने की हृदय में है विनम्रता,
सुदामा-नरसिंह की अनुभव करनी है दरिद्रता।
है जो अजातशत्रु स्थितप्रज्ञ सौम्य;
वांछा कर रहे ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ब्रह्म की।
देख कर तुम्हारी निष्काम चर्या,
जीवन्त गीता को देखा हमने प्रत्यक्ष।

योगी तमे भारतवासीहैये
जन्मी चूक्या छो ज करोडरूपे.
जगज्जनोनां उरमां तमारुं
शोभे सदा आसन दिव्य न्यारुं !

'सर्वमेधमहायज्ञे होम्यां'तां भूतमात्रने
विश्वरूप महादेवे,' कह्युं एवुं कविजने.
सर्वमेधमहायज्ञे होमी सर्वस्वमात्रने
तमेये आज शोभो छो विश्वरूप जगद्गुरो !

विराटनी व्योम विषे प्रशस्ति
को आंकती अंगुलि तारकाक्षरे.
लखे, लखे ने वळी रोज भूंसती,
गीता गुणोनी न लखाय पूरी.
गाथा एवी संतनीये अधूरी
वीली जता मानवबोलमां लखी.

## ३. विश्वशांति

विशाळे जगविस्तारे नथी एक ज मानवी
पशु छे, पंखी छे, पुष्पो, वनोनी छे वनस्पति !

वींधाय छे पुष्प अनेक बागनां !
पींखाय छे पांख सुरम्य पंखीनी !
जीवो तणी काय मूंगी कपाय छे,
कलेवरो काननना घवाय छे !

भारतवासियों के हृदय में
योगी तुम जन्म ले चुके हो कोटि रूपों मे।
शोभित है तुम्हारा आसन दिव्य अनूठा
जगत्जगों के उर में।
'सर्वमेध-महायज्ञ में होमित किया था भूतमात्र को
विश्वरूप महादेव ने'—कहा ऐसा कविजन ने।
सर्वमेध-महायज्ञ में होमित कर सर्वस्व मात्र को
तुम भी सोहते हो आज, विश्वरूप जगद्गुरो।

अंकित कर रही है तारकाक्षरों से कोई अंगुलि
व्योम में विराट की प्रशस्ति।
लिखती है, लिखकर फिर रोज पोंछ देती है,
नहीं लिखी जा सकती गुणों की गीता पूरी।
संत की भी ऐसी अधूरी लिखी है गाथा यह
मुरझा जाने मानव-बोल में।

३. विश्वशांति

विशाल जगविस्तार में नहीं है केवल मनुष्य ही;
पशु हैं, पंखी हैं, हैं पुष्प और वनों की वनस्पति !
बेधे जाते हैं पुष्प अनेक बाग के।
नोचे जाते है पंख सुरम्य पंछी के।
काटी जाती है मूक जीवों की काया।
आहट होते कानन के कलेवर।

रडे छे प्रकृतिमाता दूझे ने दिलदु:खडा;
अमी पी न धरांता, न कपूतो रक्त रेलतां !

छे पत्र ने पुष्पनी पांखडीए
प्रभु तणां प्रेमपरागपोढणा !
कल्लोलतां पंखीनी आंखडीए
गीतो अनेरां चमके प्रभु तणां !

प्रकृतिमां रमतां ए दुभाशे लेश जो दिल,
शान्तिनी स्वच्छछायाये कदी मानवने मळे ?

सौ जीव आजे उरथी वहावीए
कारुण्यनी. मंगल प्रेमधारा.
वसुंधरानां सहु बाळको मळी
बजावीए अंतरएकतारा.
हैयेहैयां प्रेमगाने जगावी,
प्रजाप्रजा हाथमां हाथ गूथी,
ने स्कंधे स्कंध संघे मिलावी,
गजावीए सौ जग उवरे ऊभी :

'मानवी प्रकृति, सौने वसुधैव कुटुम्बकम् !'

ने ए जशे शब्द अनंत वींधी,
ज्यां घूमती कोटिक सूर्यमाला,
ज्यां शांतिना रास चगे रसाळा,
यत्रैव विश्वं भवत्येकनीडम् ।

[१९३१]

रोती है प्रकृति माता, टपकते हैं दिल के दु:ख;
अमृत पीकर जो नहीं अघाते, कपूत बहाते रहते रक्त !
पत्र और पुष्प की पंखुड़ियाँ तो हैं
प्रभु की प्रेमपराग-सेज ।
कल्लोल करते पंछी की आँखों में
चमकते हैं प्रभु के अनूठे गीत !
प्रकृति में खेलते रहते प्रभु के हृदय को
पहुँचेगी यदि तनिक भी चोट,
मिलेगी क्या मनुष्य को कभी
शान्ति की स्वप्नछाया भी ?

चलिए, बहाएँ आज सब जीव उर से
कारुण्य की मगन प्रेमधारा ।
वसुधरा के सब बाल मिल कर
बजाएँ हृदय का एकतारा ।
प्रेमगान से हृदय-हृदय को जगा कर
गूँथ कर हाथ मे हाथ सभी प्रजाएँ,
भिड़ा कर कंधे से कंधा ऐक्य से,
जग की देहरी पर खड़े खड़े
पुकारें हम बुलंदी से :
"मनुष्य, प्रकृति, सभी के लिए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' ।"

अनन्त को बेध कर पहुँच जाएगा यह शब्द
जहाँ घूम रही हैं कोटि कोटि सूर्यमालाएँ,
जहाँ शांति के रास जमे हैं रसभरे,
'यत्रैव विश्वं भवत्येकनीडम् ।'

[१९३१]

## 'गंगोत्री' से

## पींछुं

जेवो को नभतारलो गरी जतो अंधारमां पाथरी
झीणी पातळी तेजपिच्छ-कलगी, दृष्टि पडे ना पडे,
ओचिंतो तहीं जाय डूबी तिमिरे; जेवुं लीला विस्तरी
सोणुं नींदरमां ठरी क्षण, सरे, जोवा पछी ना जडे;
ने जेवी कविता अखंड उरनी आराधना तर्पवा
एकाएक छती थई हृदयमां को कल्पना खेरवी
ऊडी जाय, न दे समो शबदनो श्रद्धांजलि अर्पवा—
क्यांथी क्यां गई ना लहे नजर ए रहे मात्र हैये छवी.

एवुं एक मीठा प्रभात समये को पंखी आव्युं ऊडी,
जोयुं ने अणदीठ एक पळमां तो क्यांक चाल्युं डूबी;
एने तारकतेजरेख सरखुं, के स्वप्नलोला समुं,
के मोंघी कविताकुमाश झरतुं ना गीत गावुं गम्युं !
कैं अस्पर्श्य न एवी पाछळ स्मृति राखी जवाने रूडी
पीछुं खेरवीने गयु, ऊडी गयु.
ना ! गीत मूकीगयुं :
पोते ना कंई गायुं, किंतु मुजने गातो करीने गयु.

[४-१-१९३३]

## पिच्छ

खींचकर अंधकार में प्रकाश की बारीक पिच्छ-कलगी
ज्यों ही नभ से टूट पड़ता कोई सितारा,
दीखे न दीखे और यकायक डूब जाए तिमिर में;
ज्यों निज-लीला में फैल कर सपना
ठहर कर नींद में क्षणार्ध, सरक जाए,
न हो प्राप्त पुनः देखने को,
और ज्यों उर की अखंड आराधना के तर्पण-हेतु
यकायक प्रकट होकर कविता
हृदय में कोई कल्पना छोड़ कर उड जाए,
न दे समय शब्द की श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए—
कहाँ से कहाँ गई इसका न चले पता नज़र को,
रह जाए हृदय में केवल उसकी छवि।
यों ही
एक मधुर प्रभात मे उड़ आया
कोई पंछी,
देखा, और अनदीखे एक पल मे तो
वह कहीं डूब चला;
तारक-तेज की रेखा-सा, या स्वप्नलीला-सा
या दुर्लभ कविता-नाजुकी झरता गीत गाना
उसे पसंद आया नहीं।
रख छोड़ने को पीछे कोई स्पर्शगम्य स्मृति,
उड़ गया वह छोड़ कर एक पिच्छ।
नहीं !
छोड़ गया गीत :
न गाया स्वयं, किन्तु मुझे गाता हुआ कर गया।

[४-१-१९३३]

## जठराग्नि

रचो, रचो, अंबरचुंम्बी मंदिरो,
ऊंचा चणो म्हेल, चणो मिनारा !
मढो स्फटिके, लटकाओ झुम्मरो,
रंगे उडावो जळना फुवारा !

रचो, रचो चंदनवाटिकाओ,
ऊंडा तणावो नवरंग घुम्मटो
ने कैंक क्रीडांगण, चंद्रशाळा
रचो भले !

अंतर-रूंधतो शिला
ए केम भावि बहु काळ सांखशे ?
दरिद्रनी ए उपहासलीला
संकेलवा, कोटिक जीभ फेलतो
भूख्यां जनोनो जठराग्नि जागशे;
खंडेरनी भस्मकणी न लाधशे !

[एप्रिल १९३२]

## जठराग्नि

रचिए रचिए अंबरचुंबी मंदिर,
चुनिए ऊँचे महल, मीनारें !
मढ़िए स्फटिक-से, टाँगिए बीच में झाड़-फ़ानूस,
जल के फव्वारे उड़ाइए रंगभरे।

रचिए चंदनवाटिकाएँ,
गोल गहरे खिचाइए नवरंग गुम्बद
और कितने ही क्रीडांगण, चंद्रशालाएँ
रचिए अवश्य !

हृदय को रुद्ध करती शिला को
सहेगा कैसे भविष्य दीर्घकाल तक ?
कोटि-कोटि जिह्वाओं में फैलती
भूखे जनों की जठराग्नि जगेगी
दरिद्र की वह उपहास-लीला समेटने को,
खंडहरों की भस्मकनी भी नहीं मिल पायेगी !

[अप्रैल १९३२]

## भोमिया विना

भोमिया विना मारे भमवा'ता डुंगरा
जंगलनी कुंजकुंज जोवो हती;
जोवां' तां कोतरो ने जोवी'ती कंदरा,
रोतां झरणांनी आंख ल्होवी हती.

सूना सरवरियानी सोनेरी पाळे
हंसोनी हार मारे गणवी हती;
डाळे झूलत कोक कोकिलाने माळे
अंतरनी वेदना वणवी हती;

एकला आकाश तळे ऊभीने एकलो,
पडघा उरबोलना झीलवा गयो.
वेराया बोल मारा, फेलाया आभमां,
एकलो अटूलो झांखो पड्यो.

आखो अवतार मारे भमवा डुंगरिया,
जंगलनी कुंजकुंज जोवी फरी;
भोमिया भूले एवी भमवी रे कंदरा,
अंतरनी आंखडी ल्होवी जरी.

[ऑगस्ट १९३२]

## रहनुमा बिना

घूमना था मुझे डंगर-डूंगर बिना रहनुमा,
जंगल का कुंज-कुंज देख लेना था,
देखनी थीं खोहें और गुफा-घाटियाँ,
रोते झरनों की आँखे पोंछनी थीं।

सूने सरोवर के सुनहले किनारे,
गिननी थीं मुझे हसों की पक्तियाँ,
डाल पर झूलते किसी कोकिला के नीड़ में
बुननी थी अंतर की वेदना।

अकेले आकाश के तले खड़ा अकेला मैं
पकड़ने गया उरबोल की प्रतिध्वनियाँ,
बिखर गये बोल मेरे, फैल गये नभ में,
एकाकी निस्तेज मैं रह गया।

सारा जीवन मुझे घूमना पहाड़ियों में
देखने हैं बार-बार जंगल के कुज,
घूमना है ऐसी घाटियों में जहाँ रहनुमा भी भटक जाए,
पोंछना है अतर की आँखों को ज़रा।

[अगस्त १६३२]

## बोडमां सांजवेळा

विशाळ सहरा समुं नभ पड्युं वडुं विस्तरी,
कहींय रणद्वीप शी नजर ना'वती वादळी.
डूव्यो सूरज शांत, गोरज शमी, अने रंग सौ
घडी अधघडी स्फुरो अवनी-आंढणे, आथम्या.

सर्युं क्षितिजवेन, लोचननी रक्तिमा नीतरी.
बीडेल जड़बां खूले जरी न पूर्वपश्चिम तणां.
जरी थथरी कंपतां, पण न नेनतारा हसे,
न के कनकदंतरेख समी बीज बांकी स्फुरे.

हवे नभनुं शुं थशे ? प्रबळकंध डुंगर, गिरि,
वनस्पति विशाळ गुबज उपाडनारां अहीं
नथी ! रविवियोगमां त्रूटो जशे ? तृणो मात्र ह्यां !
डरुं गभरुं मानवी—अयुतवर्ष केडेय जे
न आदिनरभिन्न—वामन करो करुं ना ऊंचा
तहीं, थरथरी टटार थई, डोक ऊंची करी
तृणो टचळी आंगळो उपर तोळतां आभने !

[३०-१-१९३३]

## चरागाह में शाम

विशाल सहरा-सा बड़ा नभ पड़ा फैल कर,
कहीं भी द्वीप मरुभूमि-सी बदली नज़र न आती।
डूबा सूरज शान्त, गोधूलि शमित हुई,
और रंग सब घड़ी-आधी घड़ी स्फुरित होने
अवनि की ओढ़नी में अस्त हुए।

छा गई क्षितिज पर अलसता, लोचन की रक्तिमा निथरी :
बंद जबड़े तनिक भी खुले नही पूर्वपश्चिम के।
थरथराते, ज़रा काँप उठते, पर नहीं हँसते नयन-सितारे,
या नहीं स्फुरित होती कनकदत रेखा-सी बंकिम दूज।

क्या होगा अब नभ का ? प्रबलस्कंध डूँगर, गिरि,
वनस्पति विशाल—कोई गुम्बद उठानेवाले यहाँ नही।
रवि वियोग में टूट जाएँगे ? यहाँ तो केवल तृण।
डरता मैं भीरु मनुष्य—अयुत वर्ष बाद भी जो
नहीं है आदिम नर से भिन्न—बौने हाथ, उठाऊँ न उठाऊँ,
इतने में थरथराते, बदन ताने, ऊँची करके गरदन
तृण अपनी छिगुनी पर उठा लेते आसमान।

[३०-१-१९३३]

## नम्रता

नम्र हुं ?
विशेष नम्र हुं थकी बीजा हशे न कोई शु ?
हशे जरूर सो वसा !
स्वीकारती ज माहरी अहो विनम्रता !

विनम्र हुं ?
अरे ! घटे ज नम्रता धर्या तणीय नम्रता !
धरु ज ए !
गुमान-डखनी कशी तमा पछी मने ?
गुमान जीतनार हुं ?
अरे हुं झाखरां पछाडी आम तो फरुं !

कदी न नम्र हु ?
लहु, मथु, छता न केम मेळवी शकुं,!
न केळवी शकु !
न हाजरी लहु !
थती छती उरे विलोकु, रे अलोप त्यां थती !
हाथताळी देई तुर्त धूर्त चाली ए जती !

[८-२-१९३३]

## नम्रता

नम्र मैं ?
मुझसे बढ़कर नम्र नहीं होगा कोई और क्या ?
होगा ज़रूर सौ फ़ी सदी !
मान लेती अहो मेरी विनम्रता !

विनम्र मैं ?
अरे मौजूं है
नम्रता धारण करने को भी नम्रता !
धारण करूँ उसे हां !
गुमान-डंक की नही रहेगी फिर कोई तमा मुझे !
गुमान जीतनेवाला मै ?
अरे घूमता हूँ मैं तो वैसे झंखाड़ के आसपास ही !

नही मैं कभी नम्र ?
लड़ता हूँ, मथता हूँ, फिर भी उसे क्यों पा नही सकता ?
न तो साध पाता !
न पाता उसे हाज़िर !
देखूं उसे हृदय में प्रकट होती,
रे, उसी पल वह अलोप हो जाती !
धूर्त वह, तुरन्त ही सफाई से छटक जाती !

|[८-२-१९३३

## बळतां पाणी

नदी दोडे, सोडे भडभड बळे डुगरवनो;
पडे ओळा पाणी महीं, सरित हैये सळगती.
घणु दाझे देहे, तपीतपी ऊडे बिदु जळनां.
वराळो हैयानी पण मदद कं ना दई शके.
जरी थंभी जैने ऊछळी, दई छोळो तट परे
पहाडोने छांटी शीतळ करवानुं नव बने.
अरे ! जे प्हाडोए निज सहु निचोवी अरपियुं
नवणोमां, तेने समय पर दै बुंद न शके.

किनारानी आंकी जड कठण माझा क्यम करी
उथापी-लोपीने स्वजनदुखने शांत करवुं ?
नदीने पासेनां सळगी मरतांने अवगणी,
जवुं सिंधु केरा अदीठ वडवाग्नि बूझववा !
पछी त्यांथी को दी जळभर भले वादळ बनी,
वही आवी आंहीं गिरिदव शमावानुं थई रहे !
अरे ! ए ते क्यारे ? भसम सहु थै जाय पछीथी ?

[७-५-१९३३]

## जलता पानी

नदी दौड़ती, दहकते पार्श्व में भक-भक डूंगर-वन;
पड़ती छायाएँ पानी में, सरिता अंतर में जलती है,
दग्ध होती देह, तप तप कर उड़ते जलबिन्दु।
हृदय की भाप भी कुछ मदद पहुंचा सकती नहीं।
ज़रा रुक कर उछल कर, तट पर तरंग-छलक फेंक कर
पहाड़ों को छिड़काव द्वारा शीतल करना संभव नहीं होता।
अरे! इन पहाड़ों ने अपना सब कुछ निचोड़ कर
अर्पित किया धाराओं में,
और उन्हें यथा-समय बूंद भी मयस्सर नहीं!

किनारे की अंकित जड़ कठिन मर्यादा का
लोप करके कैसे स्वजन-दुख को शान्त करे?
निकट के जल-मरनेवालों की उपेक्षा करके
नदी को जाना है सिन्धु की अनदेखी वडवाग्नि बुझाने को!
फिर चाहे वहाँ से जलभरी बदली बन कर
वह आकर यहाँ संभव हो उसके लिए
बुझाना गिरि-दावानल!
अरे, लेकिन वह कब? जब सब हो जाए भस्म, तब?

[७-५-१९३३

## एक बालकीने श्मशान लई जतां

तने नानीशीने कशुं रडवुं ने शु ककळवुं ?
छतां सौये रोयां ! रडी ज वडमा लोकशरमे,
हसी जोके हैये निज घर शकी काश टळता.
बिचारी बानां बे गुपत चर्खाबिदुय वचमां
खर्यां, स्पर्श्यां तुंने नहि. यमसमा डाघुजन ते
निचोवे शा काजे नयन अमथां अन्य घर ? ने
विचार्युं हुं जेवे, मरण कूणु ते शीद रडवु ?
—छतां सौये रोयां रूढिसर दई हाथ लमणे !

खभे लैने चाल्या, जरी जई, वळांके वळी गया,
तहीं आंटे तारी सरखी वयनी गोठण दीठी.
रही'ती ताकी ए, शिर पर चढीने अवरने
सूई रहेवानी आ रमत तुज देखी अवनवी,
अने पोते ऊंचा कर करी मथी क्यांक चढवा;
—अमे आगे चाल्या—रमत परखी जै ज कपरी,
गळा पूठे नाखी कर, पग पछाडी, स्वर ऊँचे
गई मंडी रोवा ! तुज मरणथी खोट वसमी
अकेलीए आखा जगत महीं गणे ज वरती !
अने रोवुं न्होतु पण मुजथी रोवाई ज गयुं !!

[१९३३]

## एक बच्ची को श्मशान ले जाते हुए

तुझ पर—छोटी-सी पर—क्या रोना, क्या कलपना ?
फिर भी रोये सब ! दादीमाँ भी रोईं लोक-लाज से,
भीतर मुसकाईं वैसे निज घर से देख बला टलते।
बेचारी माँ के दो छिपे आंसू बीच में झरे,
तुझे छू भी नहीं पाए।
यम जैसे शवयात्री तो भला दूसरे के घर
अकारण निचोड़ेंगे क्यों नयन ?
और मुझ जैसे ने सोचा—इस कोमल मृत्यु पर क्यों रोना ?
सब रोये फिर भी रूढ़िवश, हाथ पर गाल रख कर !

चले कंधे पर लेकर, ज़रा बढ़कर मोड़ पर मुड़ गये,
वहाँ चबूतरे पर देखा तेरी समवयस्क सखी को।
ताक रही थी वह, मर पर दूसरे के चढ़ कर
सोने रहने का यह खेल अजीब देख कर उसने
खुद ऊँचे उठा कर हाथ कहीं चढ़ने की चेष्टा की;
हम आगे बढ़े—निरख कर उस मुश्किल खेल को—
गले के पीछे हाथ डाल कर,
पैर पटकती, ऊँची आवाज़ से
लग गयी रोने वह !
तेरे मरण की असह्य कमी
सारे जगत में केवल एक उसने ही अनुभव की।
और, रोना नहीं था मुझे, फिर भी आ गई रुलायी ! !

[१९३३]

'आतिथ्य' से

## बे पांदडां

सांजने समय घेर आवतां,
मार्गमां नित निहाळतो तने.
—वृक्ष शुष्क, मनभावतु छतां,
आज कै कही रह्य 'तुं शु मने ?—

'जोईने सुकल डाळडांखळी—
मांय कैं रुचिरता, तुं राचतो.
आज देख मुज काय पांगरी,
बेक पर्णथीय प्राण नाचतो.'
आभनी सुभग भों समक्ष बे
पांदडां पलपलावी, वृक्ष ए
बे क्षणो मलक्यु डाळथी ज त्यां
पक्षियुग्म ऊडी, जाय क्यानु क्यां.

[१६-८-१६४५],

## दो पत्ते

संध्या के समय
घर आते-आते
रोज़ मार्ग में देखता
—वृक्ष शुष्क, फिर भी मनभाता,
कह रहा आज क्या कुछ मुझसे ?—

'देख कर इन सूखी टहनियों और डालियों में
कुछ रम्यता
होता तू खुश।
देख आज यह काया मेरी पर नवीन हुई
दो-आध पत्तों में भी
प्राण ये नाचते।'

आकाश की सुभग पृष्ठभूमि में
दो पत्तों को हिला-हिला जरा,
वृक्ष दो क्षण मुस्कराया
डाली से उड़ गया इतने में विहग-युगल
न जाने कहाँ!

[१६-८-१९४५]

## वाटडी

वाटडी, वन रे वगडानी हुं वाटडी.
भटकुं हुं भमती डुगरने माथे,
रमती रुमझुमती नदीओनी साथे,
लेनी कुंजोने कोडभरी बाथे,
धरती माथे शु सेंथी पडी : वाटडी···

ओनरदक्खण आमतेम अटवाती,
वननी ते वीजळी शी चोंगम वींझाती,
पथीने देखीने सामेथी धाती,
सूना वेरानमा हु आथडी . वाटडी···

पगला नीचे मारो काया पीलाती
जळनी पथारीए पडना वीलाती,
अहीथी फेकाई सामे तीरे झीलाती,
चाटु आकाश गिरिए चडी · वाटडी···

घेली गुफाओ ने कोतरोमा घूमती,
वनराने माथे को तेग समी झूमती,
अभियागतना रहु पावलिया चूमती,
घसी में एने काज जातडी.
वाटडी, वन रे वगडानी हुं वाटडी.

[११-१०-१९४४]

## पगडंडी

पगडंडी हूँ मै, वन-जगल की पगडडी
भटकनी हूँ मै, घूमती पहाडी के सिर पर.
खेलती हूँ रुनुझुनु, खेलती नदियो के माथ,
कुजों को अपनी बाँहा मे बाध लेती हूँ,
मै जेग ग्र। के केश की माँग हू।

उत्तर मे आर दक्षिण मे इधर-उधर उलझती हू,
वन की बिजलो-सी चारो ओर घूमती हू,
प्रवासो को देख कर सामने से दौड आती हूँ
निर्जन बिराने मे भटकती हूँ।

पदचिह्नो के नीचे काया मरा दबती है,
जल की शैय्या मे पडते ही विलीन होती हूं,
यहाँ से फेकी जाकर उम पार निकलती हूं,
गिरि पर चढ कर आकाश का अवलेह करती हूँ।

पगली गुहाओ मे और कान्तारो मे घूमती हूँ,
वनराजि के सिर पर तलवार सी झूमती हूं,
अभ्यागत के पाँव चूमती रहती हूँ,
उसके लिए मैंने काया का कष्ट झेला है,
पगडडी हूँ मै, वन-जगल की पगडडी।

[११-१०-१६४४]

## स्त्री

पुरुष—"तमे बने बेसो; उभय निरखुं एक नजरे,
निरांते बनेनां ऋजुकुटिल सौ लक्षण लहुं.
अहो तु छे केवी ! हृदय अवगाही तुज रहुं,
सुधा सींचे देवी क्षत उर पडे ए अवसरे.
अने हुंये कै जो क्षणिक कण अर्पुं तव मुखे,
उमंगे स्वीकारे हृदय हरखाती स्मितमुखे.

अने तु ? हा तुं तो जगनी अवळाई वर्धाय ने
भरी हैये, पीडे जगीजरीकमा भूंडी गतथी !
न मारा हैयानो स्वप करुं तने, तोय अमथी
विचारोने एळे घडाघडी चडावे तुज लने.
कहुं के दे छोडी, जगनल जती स्वेची वळगी,
महामूर्छा ना आ जनम महीं थाती ज अळगी."

स्त्री -पछी मे पूछ्युं : "छ अवर जण को ? हुं ज छु अहीं.
जओ तो पछे".

पुरुष— "हा ! क्रमथी तु ज बने बनी रही !"

[१-६-१९८८]

# स्त्री

पुरुष—"बैठो तुम दोनों, देखूँ एक निगाह में दोनों को,
आराम से कहूँ दोनों के सरल कुटिल लक्षण सभी।
देख, कैसी है तू!
अवगाहन करता हूँ तेरे हृदय का।
उर पर क्षत होने के अवसर पर
सिंचन करती है तू सुधा का।
और मैं भी तेरे सुख में
करता हूँ एकाध कण समर्पण जब
स्मितमुख से, उल्लास से
हृदय से प्रसन्न हो स्वीकार करती है।

और तू?
हाँ, तू तो विश्व की सारी वक्रता
हृदय में भरकर देती है पीड़ा क्षण क्षण
बुरी तरह!
तुझे नहीं है जरूरत मेरे हृदय की
फिर भी उस बेचारे का
अपना आदी करती रहती है वृथा।

कहता हूँ जब छोड़ दे
तू खींच कर ले जाती है जगतल में,
महामूर्च्छा यह न होगी इस जन्म में
कभी विलग मुझसे।"

स्त्री—फिर पूछा मैंने : "कौन है वह दूसरी?
यहाँ तो मैं ही हूँ जरा मुड़कर देखो पीछे!"

पुरुष—"हाँ, तू ही क्रम से दोनों बन कर रही है।"

[२-६-१९४४]

## सुधा अने वारुणी

कदीक स्फुरती शके विद्युनी बीजरेखा हसी !
बनी घडीकमां प्रपूर्णरस पूर्णिमानो घट.
पीधी सुभग ए सुधाघटनी घूंट ज्यां चश्चशी,
ढळ्यो सुभग आत्म मूर्छित अनन्तने तट.
भीजावी उर रोमराम सखी विस्मये वारुणी
सुहागभर सौम्य जीवन तणा रसश्री-पट.

कदी अलकशी अगो [illegible]निज चित्तने चन्दन,
चूमी टपकतां मदे अधर दूर तूर्मी रत्या.
कपाल छलके, रसोर्मि ढळके, मुदग्-अचल
स्फुरी मधुरत्व रहे तृछी ज के चहो ?—ना चहो ?
प्रभा उघडी अंगअंग अणनृत्तिनी आरुणी.
अहो मदिलता, अहो प्रणयछाक, लाली अहो !
मळी कदीय कोईने प्रकृत ने सुधा वारुणी ?
पीओ हृदयवन हे ! कदी सुधा, कदी वारुणी.

[१४-१०-१९४३]

## सुधा और वारुणी

कभी स्फुरित होती है—
मानो चंद्र की दूज रेखा हँसती हो।
और फिर बनी क्षणेक में
प्रपूर्णरम्य पूर्णिमा का घट।
और जब उस सुधाघट की एक बूंद चखकर हम पी,
ढली यह आत्मा, मूर्छित हो
अनंतता के तट पर।
भिगोकर हृदय रोम-रोम में फैलता है
तारुणी सुहागभर सौम्य जीवन का रसश्री-पट।

कभी चित्त के क्षितिज पर
एक झलक-सी कौंध गई
चुम्बन टपकते हुए मद में दूर झूम रहा अधर।
कपोल छलकते, रसोमि ढलकती
मृदृग्-अंचल स्फुरित होते हैं माधुर्य से,
पूछते हैं चाहते हो?—नहीं चाहते हो?
खिलती है अंग-अंग पर अतृप्ति की आरुणी प्रभा।

अहो मदिलता, अहो प्रणयमस्ती, लाली अहो!
मिली है क्या कभी किसी को केवल सुधा?
हृदयवंत तुम
कभी पीओ सुधा, कभी वारुणी।

[१४-१०-१९४३]

## अषाढी मेघली राते

आषाढी मेघली राते,

हो मरमी !

आवी एक मेघली राते,

हैया चढ्या'ता वाते,

हो मरमी !

हैयाना वीनकनी वाते.

आगुए आजी आखडी, आनदे ऊजळु मुख,
मभग आ समारमा मुदरी शोधे सुख.

शोधे छे पगले दबाते,

हो मरमी !

हठे छे काळजे कपाते.

आषाढी मेघली राते,

एक मर्म घन टपकता, मार करे मदशोर,
आतमने अणचितवी लागी गई झकोर.

हैया हैयानो साथे

हो मरमी !

बधाया'ता एक गाठे.

आवी एक मेघला राते,

हो मरमी !

आषाढी मेघली राते.

[२१-७-१९४५]

# बादलछाई रात

आषाढ की बादलछाई रात में
हे मर्मी,
हाँ, ऐसी ही एक बादलछाई रात मे
हृदय थे लीन गुपचुप बातों में
हे मर्मी, लीन
बीती बातो मे, जो हृदय पर से गुजर चुकी ।

आँसू मे अजित कर आग्र
आनंद से उज्जवल मुख,
भरे पूरे इस ससार म
खोजती है सुन्दरी मुख,
खोजती है देव पात्र
हे मर्मी,
ढूढ़ती है जलते कलेजे म ।

एक बार
मेघ बरसता था
मोर करता था मदशोर,
आत्मा को यकायक लग गई झलक,
हृदय हृदय के साथ
हे मर्मी,
बँधे थे एक गाँठ में।
ऐसी एक बादल छाई रात म ।
हे मर्मी,
आषाढ की एक बादलछाई रात मे ।

[२१-७-१९४५]

## टपटप नेवां

वळीवळीने रातभर टपटप नेवां चूए.
आभझरूखे एकलु कोण रही रही रुए ?
त्रमके तमरां तिमिरमां. तरुथी जलकण खरे.
व्होळां कदलीपर्ण पर फोरां खखड्यां करे.
घन गगडे, थथरे धरा, छाती ऊडे छळी,
पडघा गिरिगोरंभता प्रगटे उरथी वळी !
पड्खां फरता जीवनी काण वेदना कळे ?
टपटप नेवांरव थकी लची पोपचा ढळे

[२०-७-१९५५]

## पानी गिर रहा

फिर फिर से
ओलती से पानी गिर रहा है
रात रात भर।
आकाश के झरोखे पर
कौन अकेला रो रहा है
रह रह कर?
झिल्लियाँ झनकारतीं है तिमिर में,
तरु से जलकण टपटप गिरते हैं।
विशाल कदली के पत्तों पर
बूँदे खड़खड़ाहट करती है।
बादल गरजते हैं,
धरा काँपती है,
छाती भय से कँप जाती है,
गिरि से आते प्रतिघोष हृदय में पुनः पैदा होते हैं।
करवट बदलते रहते जीव की वेदना को कौन समझे?
टप टप
ओलती से गिरते पानी की आवाज में
भारी होकर पलके ढलती है।

[२०-७-१९४५]

## श्रावण हो

श्रावण हो !

अरधी वाटे तु रेलीश मां,

मारी भरी भरी हेल, छेडोश मां !

अरधी वाटे तुं रेलीश मां !

झोलां ले घन गगनमां, सरवर ऊछळे छोळ.

छालक जरी तुज लागतां हैयुं ले हींचोळ.

अरधी वाटे…

आछां छायल अगनां जोजे ना भीं जाय,

काचा रंगनो कंचवो रखेने रेल्यो जाय.

अरधी वाटे…

श्रावण ! तारां सरवडां, मोरी अखियनधार;

तुं वरसीने रही जशे, एना वारा मास नितार.

अरधी वाटे तुं रेलोश मां.

श्रावण हो !

[१०-७-१९४५]

# हे सावन !

हे सावन !
मत बरस रास्ते के बीच
मेरे भरे पूरे घट को मत छेड़ !
रास्ते के बीच मत बरस।

झोंके खाता है मेघ गगन मे,
सर वर उछल रहा है लहरों मे।
थोड़ा सी तेरी झलक लगते ही
मेरा हृदय झूमने लगता है—
देखो, भीग न जाये मेरे अंग के झीने वस्त्र,
मेरी कंचुकी है कच्चे रग की,
शायद बह जाय रग।

सावन! तेरी बोछार
मेरी अँखियन धार;
तू तो बरस कर रह जायेगा,
वे तो बरसेंगी बारहों मास।—
रास्ते के बीच मत बरस
सावन हे···

[१०-७-१९४५]

## गोरी मोरी, फागण फाल्यो जाय

गोरी मोरी, फागण फाल्यो जाय
के चैतर कोणे दीठो रे लोल
व्हाला मोरा जोबन झोला खाय
के झूलणो लागे मीठो रे लोल
गोरी मोरी हैया ढळी ढळी जाय
के झूलशो क्या लगी रे लोल
व्हाला मोरा झूलणो मेल्यो न जाय
के झूलशु जिन्दगी रे लोल

गोरी मोरी चैतर चाल्यो जाय
के वैशाख वही जशे रे लोल
व्हाला मारा आ शो अधीरो थाय
के आज आंछी काले हश रे लोल

गोरी व्हाले मेल्ली आवलियानी डाळ
के चाल्या चाकरी रे लोल
लागी ऊठी वैशाख जेठनी झाळ
के वेळा आकरी रे लोल
आवी त्या तो आषाढी मेघ सभळाय,
गोरीनो भीज्यो कचवो र लोल

## फागुन

गोरी मेरी,
फागुन पुर बहार में बीता जा रहा है।
चैत्र किसने देखा है ?
प्रिय मेरे,
यौवन झोके खा रहा है,
झूला बडा प्यारा लग रहा है।

गोरी मेरी,
हृदय ढुलक-ढुलक जाते है,
कब तक झोंके खाओगी ?
प्रिय मेरे,
झूला छोडने को दिल नही करता,
जीवनभर झूलते रहेंगे।

गोरी मेरी,
चैत्र बीत रहा है
वैशाख भी बीत जायेगा।
प्रिय मेरे,
अधीर क्यों होते हो ? नही रहेगी कल आज

गोरी को
प्रिय ने छोड़ दिया अमुवाकी डाली,
चाकरी के लिए चल पडे।
वैशाख-जेठ की ज्वाला लगी
बेला अति कठिन है।
आ गरजता है आषाढ़ का मेघ
गोरी की कंचुकी भीग गई।

व्हाला मोरा फागण पाछो लाव्य
के चैतर क्यां मूक्यो रे लोल
आभमां फरके श्रावणवीज,
गोरीनी रूठी आंखडी रे लोल
व्हाला मोरा बीजनी न करजे त्रीज,
भींजाती में अही खडी रे लोल

[१९३८]

**कोक**

बारणां बंध हु ज्यारे करु छु, चित्तमा रह्यु
कोक त्या बोली ऊठे छे : 'कोण ब्हार रही गयु ?'

[२-६-१९४५]

प्रिय मेरे,
फागुन को वापिस ला दो,
चैत्र को कहाँ रख दिया ?
आकाश में सावन की बिजली कौंधती है,
गोरी की आँख रूठ गयी है।
प्रिय मेरे,
मत करना दूज की तीज
मैं यहाँ खड़ी भींग रही हूँ।

[१९३८]

## कोई

बन्द करता हूँ जब जब मै द्वार;
बोल उठता है चित्त मे बसा कोई—
'कौन रह गया बाहर ?'

[२-६-१९४५]

## —'प्रसीदत रुद्यते'

(राष्ट्रमाता कस्तूरबाना मृत्यु पर।)

[प्रसीदत रुद्यते—रडी जवाय छे, तमे प्रसन्न रहो। महाकवि
भवभूतिना 'उत्तररामचरित' मा रामनो उद्गार]

अबुध वयमां झाल्यो'तो आ करे कर कोमल
गभरु अबलानो, तोये ते रह्यो ज बनी बल.
अडग हृदये झाल्युं सूत्र, स्थिरा थई, हाथमां;
वितक कंई जे व्होर्यां वीत्यां, सह्यां सहु साथमां
जगअनुभवे स्हेजे हैयां पछीथी हळी गयां,
जीवतर तणां व्हेणो बने हतां ज भळी गयां.
कठिन कपरी आयुर्यात्रा सदा मुज कारमी
पण तुज अरे जीव्या सामे गणु कुसुमो समी.

परिचय हवे साठे वर्षे शु आम पूरो थवो ?
दिन विरतिनो छो आव्यो, जो हतो कदी आववो !
मुज हृदय आ वाळी झाडी कर्यु कंई तो नर्यु
नयन भरीने क्यांथी तोये जरी उर नीतर्युं !
गई ज शीखवी, भोळी जेने गणी हती, धर्म ते;
स्मरण बनी ए साध्वी! आत्मन्, प्रसीदत रुद्यते।

[२५-४-१९४४]

## —प्रसीदत रुद्यते

### (राष्ट्रमाता कस्तूरबा के निधन पर)

['प्रसीदत रुद्यते—आ जाती है मुझे रुलाई, आप प्रसन्न रहें !' महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरित' मे, राम का उद्‌गार ]

ग्रहण किया था अबुध वय में इस कर में
कोमल कर गबरू अबला का,
किन्तु रहा बन कर वह बल।
अडिग हृदय से पकड़ा जीवनसूत्र,
हुई उसमें तू स्थिर;
मोल ली—बीतीं—जो कुछ आपत्तियाँ,
सहा उन सब को एकसाथ।
जग-अनुभव में फिर हिलमिल गये हृदय सरलता से।
मिल गयी थीं जीवन की दोनों धाराएँ।
आयुर्यात्रा मेरी रही है कठिन दारुण
किन्तु तेरे जीने की तुलना में तो लगती कुसुम-सी।

अब साठ वर्ष के बाद क्या पूरा होगा परिचय ऐसे ?
आनेवाला था यदि विश्रान्ति का दिन,
भले ही आया !
किया था इस हृदय को झाड़-बुहार कर साफ,
फिर भी भर कर आँख वह कैसे—कहाँ से निथर आया ?
सिखा गयी धर्म, जिसे माना था भोली;
स्मरण बनी वह साध्वी ! आत्मन्, प्रसीदत रुद्यते।

[२५-२-१९४४]

## कवि

[एना व्यक्तित्वनां बे अंगो—सः अने अहम्—वच्चे संवाद]

ते : शुं छे ?

हुं : नथी कंई ज !

ते : ले ! कंइ बोल, बोल.

शाने रिसाय ? कथनी तुज सर्व खोल.

हुं : तु तो वदे कंई न. पाणीथी पातळो हुं

वाचळताथी बनु.

ते : शु नव हुंय मोहुं

वाचा विषे ?

हुं : बहुय ! शब्दथी मौनभार

आच्छादतो तु, रजनी ज्यम अंधकार

नक्षत्रना पट वडे छूपवे. अरे ना

केमेय काम पडशो तुजथी ! न जेना

छे वर्तने जरीय ते सुकुमार भाव.

सारु लहे तुजथी विश्व रसोर्मिल्हाव;

टाळे तुं एक मुजने, मुजमां वसीने !

छे याद शब्द कदी एक वद्यो हसीने ?

ने सर्व निष्ठुरपणुं ठलवाय तारु

आ धन्य पीठ मुज ऊपर ! जाय मारुं

आयुष्य वेठ करतां तुज, ने तने तो

मों खोलवा न अवकाश कदी रहेतो !

ते : ए तो भला ऊलटनी सहु वात, शाने

बोलाववा बहु करे तुं मने पराणे ?

## कवि

[इसके व्यक्तित्व के दो रूप—'स.' और 'अहम्' के बीच संवाद]

वह : क्या है ?

मैं : नहीं है कुछ भी !

वह : अरे ! बोलो, कुछ तो बोलो !
रूठते काहेको ? खोलो अपनी सारी कथनी ।

मैं : तुम तो कहते नही कुछ ।
और बन जाऊँ मै पानी से भी पतला
वाचालता से ।

वह : क्या नहीं होता मोहित वाचा पर मै भी ?

मैं : बहुत-से ! शब्द से आच्छादित करते तुम
मौन-भार को,
ज्यों अंधकार को छिपा देती रजनी
नक्षत्रपट से ।
अरे, न पड़े पाला कभी तुम जैसों के साथ !
नहीं जिसके बर्ताव में तनिक भी सुकुमार भाव ।
सारा विश्व पाता तुमसे रसोर्मि का चाव,
टालते तुम केवल मुझे, बस कर मुझमें !
है याद कि कभी कहा एक भी शब्द सस्मित ?
और सारी निष्ठुरता तुम्हारी आ पड़ती
मेरी इस धन्य पीठ पर !
बीत रहा मेरा जीवन तुम्हारी बेगारी करते,
और तुम्हें तो मुख खोलने का भी
नहीं मिलता कभी अवकाश !

वह : वह तो भला होती है दिल की बात,
क्यों प्रेरित कर रहे मुझे बोलने को बरबस ?

हुं : जोयुं ? कथा रही ज आखर ए ललाटे !
मेंं शु कर्युं न तुज खातर ? वाटघाटे
घूमी तने घणु घणु रीझव्यो : फूलोना
पुजे सुगंधिभर कोकिलबुल्बुलोनां
गीतो सुधास्रवत कं मुणव्या; सुकुजे
दीधी सुषुप्ति, जहीं कल्पनस्वप्न गुजे
मत्त द्विरेफ सम; निर्झरवारितीरे
तप्यों तने मदिल म्हेकभर्या समीरे.
ते अंजनो नयनमां कंई ग्रंथअर्के
कीधां, वधी चमक जीभनी प्रौढ तर्के.
अर्पी तने विविध प्रीति जगज्जनोनी,
लीला चखाडी कंई लोल सुलोचनोनी.
कहे तु ज, ग्थी वधु ने पछी शु करुं हुं ?
तारु परंतु कदी एक गयु न ऊहु !

ते : शुं थाय बीज ?

हुं : थई शु न शके कई ज ?
तारी अने नथी मने समजातो खोज.
हुं हांफतो कदीक दूरथी दोडी आवु,
थाशे प्रसन्न गणी के धन गुप्त लावु.
मूकु करे तव हुं कंपत पत्र मूक;
शु जाण्यु शीर ही गईय हश ज चूक,
तु जोई स्हेज करी दे टुक हाल भूडे,
ने काळजानी करचो मुज साथ ऊडे.

ते : भारे तने पडतुं कष्ट ?

मैं : देखा ? रही आखिर इस भाग्य में तो वही कथा !
मैंने क्या क्या नही किया तेरे खा़तिर ?
घूम कर बाट-घाट बहुत बहुत मनाया तुम्हें :
फूलों के पुंज पर
कोकिल-बुलबुल के सुधा झरने
सुनाये सौरभभरे गीत;
सुन्दर कुज में दी सुषुप्ति,
जहां गूंजते कल्पना-स्वप्न मत्त भ्रमर की तरह;
निर्झर के तीर तर्पित किया तुम्हें
मदिर समीर से ।
और कितने ही ग्रथों के अर्को का लगाया
अंजन तुम्हारी आँखों में,
और बढ़ी तुम्हारी जिह्वा की चमक प्रौढ तर्कों से ।
अर्पित की तुम्हे विविध प्रीति जगज्जनो की,
लीला चखाई कमनीय लोचनों की .
तुम्ही कहो, इस से अधिक क्या कर सकता मै ?
किन्तु नहीं गया कभी तुम्हारा एक यह 'ऊँहुँ' !

वह : क्या हो सकता और ?

मैं : नही हो सकता क्या कुछ भी ?
नही समझ पाता मैं तुम्हारी खीज ।
मैं कभी दूर से दौड़ आऊँ हाँफता,
ले आऊँ कोई गुप्त धन
मान कर कि तुम होगे प्रसन्न ।
रखूं तुम्हारे हाथ में काँपता पत्र मूक,
क्या पता क्या रह गई होगी चूक,
देख कर ज़रा कर देते तुम टुकड़े बुरे हाल,
और उड़ती फिर किरचें मेरे दिल की, साथ ।

वह : पड़ता तुझे बड़ा भारी कष्ट ?

हुं : न रे ! मजा छे !
जाणे तुं—आ सुमनसेज समी सजा छे ?
ते : तारी ज एक जगमां शुं नवी नवाई ?
जन्मी कंईक अणबोल गया तवाई.

हुं : ते तो थवुं ज निरमायं दिसे ·

ते : भले तो !

हुं : मूक छुं जा ! हुंय तने बस तो वहेतो !

ते : ते जेवी तारी मरजी ! न मने कदापि
तुं फर्ज पाडी शकशे, पण धाक आपी
कैं मांदलां कविपणां करवा, ऊंचा वा
हैया थकी अदवगां वळी गीत गावा;
उडाववा वितथ लागणीना गबारा,
रेलाववा रसथी रोतल वा लवारा

हुं : शाने न तो भभकरंगभर्या मिजाजे
तु काढतो नवरसोमिलचंत साजे
सौन्दर्यसंभृत सुछंदसवारी तारी ?
र्‌हेशुं अमे नीरखीने नयणां ज ठारी.
खेलाव छंद नवला तुं रवाल चाले,
लै रांगमां, असप को अरबी मिसाले.

ते : केवं तने सुभग ते गमतुं ज चित्र ?
ने सर्व आचरण तो ज्यम हो अमित्र.

हुं : शुं हुं अमित्र ? वळी ते तुज ?

ते : तुंय ते ! हा !

हुं : क्यारे कहे तुजनी रूंधी ज सर्जनेहा ?

ते : घेरी पड्यो तुं भरडो लई, को न बारुं;
ने जो रहे कृपण आ रसविश्व मारुं,

मैं : नहीं रे ! है मज़ा !
जानते तुम—यह तो है सुमनसेज-सी सज़ा ?

वह : जग में क्या तुम्हीं नया अचरज हो ?
जन्म कर कितने ही हो गये तबाह।

मैं . दीखता है यह तो हो चुका निर्मित !

वह : ठीक है तो !

मैं : जाओ छोड़ता हूँ तुम्हें भी बहता !

वह : सो तो जैसी मरज़ी तुम्हारी !
नहीं कर सकोगे तुम मुझे मजबूर कदापि,
पर डाँट देकर माँदे माँदे कविपने करने को,
मुखर हृदय से सस्ते गीत गाने को,
वितथ संवेदना के उड़ाने को गुब्बारे,
रस से रेलाने को ढीले मनहूस बकवास।

मैं : क्यों नहीं चमकीले रंगभरे मिज़ाज से
निकालते तुम नये रस, नयी ऊर्मि के साज से
अपनी सौन्दर्यसंभृत सुछद-सवारी ?
देख कर कर लेंगे हम आँखों को तुष्ट।
खेलाओ तुम छंदों को नयी रहवाल चाल से
कस कर सवारी किसी अरबी अश्व की मिसाल में।

वह : कैसा प्यारा लगता तुम्हें वह सुभग चित्र ?
और हैं बर्ताव तो सारे ज्यों हो अमित्र।

मैं : क्या मैं अमित्र ? और वह भी तुम्हारा ?

वह : तुम भी ! हाँ।

मैं : कहो, कब की कुण्ठित मैंने तुम्हारी सिसृक्षा ?

वह : घेर पड़े हो तुम भारी लपेट में लेकर,
नहीं है छुटकारा कोई ;
और देखो,
रह जाता है कृपण मेरा यह रसविश्व।

हुं : मारु ं गजुं शु ? ऊलटो कंई वेळ, भाई,
चाल्यो जतो हरण मारु ं करी तु कयांई !
रहेनु शरीर पडी छेक ज सूनमून.
लोकोय ते बहु हसे मुज जोई धून .

ते : रे वाह ! दे पत मने न, जमावी छानो
तु डायरो अणगणी कंई वासनानो
बेसे; न त्या करी शकु जरी डोकियुये.
ऊभो बहार रहुं भिक्षुक जेम

हुं : तुये
वोले अरे शुं ? जगरंग विषे गळेथी
झाली न तु ज पटके मुजने बळेथी
घुमावतो, जल वि ो ज्यम होउं मच्छ !
ने राखवा ज तव तो कर बेय स्वच्छ !
झंकारतो तु रसतर्पक काव्यवीणा,
ने लाज ना कदी तने मूकता ज हीणा
शब्दो मुखे मुज जगत्-व्यवहारमा, ते
लागे घणु वरवु. भूली शके शी वाते :
तु सत्यनु मुख ?

ते : हिरण्मय पात्रथी ते
जोजे न ढाक्युं कदी जाय जन कोई रीते.
दारिद्र्यसवननु व्रत हो कठोर !

हुं : ने ना तथापि थतु निर्वृ ण के नठोर !
केवो तु ? तृप्ति तुजने नहि के जीवाड्यो,
सेवा तने अरपी आज लगी, रमाड्यो.
तेमां तने नव जरी पण ऊणुं चाले,
ने रिक्तता तु लखतो बस आ कपाळे

ते : ना रे मने, अवरने पण सेवी रहेवा.

मैं : मेरी क्या हैसियत ? इससे उलटा,
भाई, कभी तो
करके मेरा हरण तुम ही चले जाते हो कहीं !
पड जाता शरीर निहायत मना
हँस लेते लोग भी देख कर मेरी धुन।

वह : रे वाह ! मुझे नहीं देते तुम पत,
खुद जमा कर दायरा अनगिनत वासनाओं का
बैठते तुम, और मैं तो झाँक भी न सकूँ उसमें,
खड़ा रहूं बाहर भिक्षक की तरह।

मैं : तुम भी बोलते हो अरे क्या ?
जनरग में मुझे खींच कर पकड़ कर गले से
पटक नहीं देते क्या तुम्हीं बल से ?
घुमाते तुम मुझे, होऊँ मैं मानो जल में मत्स्य !
रखना चाहोगे तुम तो अपने दोनों कर स्वच्छ !
झंकृत करते तुम रसतर्पक काव्यवीणा,
और न आती लाज मेरे मुँह में जगत्-व्यवहार के
विषय में रखते हुए हीन शब्द,
लगता यह तो बहुत भोड़ा।
क्योंकर भूल जाते कि तुम हो
सत्य का मुख ?

वह : हिरण्मय पात्र से वह, देखना,
न ढँका जाए कभी किसी तरह।
दारिद्र्य-सवनन का व्रत हो तेरा कठिन !

मैं : और नहीं होना फिर भी निर्घृण या निष्ठुर !
कैसे हो ! तुम्हें जिलाया इसको नति नहीं तुम्हें,
अर्पित की आज तक सेवा, खेलाया।
इनमें तो नहीं निभा लेते तनिक भी न्यून,
और लिख देते रिक्तता इस भाल पर।

वह : मेरी ही तरह, औरों की भी करते रहना सेवा।

हुं : सेवा जतां ज करवा बहु लीधी सेवा
ना कोड ए अव रह्या !

ते : मरा देखवाना
रहेशे मळी !

हुं : मज शरीरनी शा शिराना
उडाव तु रुधिरशीकर, ने चेहरा
जो बिंदु बिंदु पर अंकित के अनेरा.

ते : मुद्रा हशे प्रतिमुखे मुख एकनी ज ?
के बेनी ? के पछी…?

हुं : मने न पूछीश चोज
ए एक ! छोड मुजने !

ते : अळगो रहीश
संसारथी ? स्वजनने उर न वहीश ?

हुं : ते हा अरे स्वजन ! ने उर ! अक मारा
विश्वभथी दिननिशाभर जे मुनारा,
हा ते जा झोंकु मुजने जरी आवतामा
व्हेला बधाथी गळु मारुं दबाववामा.

ते : तेथी दीसे हलक कठनी खूब खीली !
रिझाववीय दुनिया पडशे हठीली !
कहे शु करीश ?

हु : कई ना, जरी छु नगर्व.
जेथी हु वंचित, हुथी पण एय सर्व,
ना हु भमु जगत पाछळ.

ते : केम एवु
चाले ? भला ! जगनन् भरवुय देवु.
जे तु कई सकल ते बध शु न एथी ?

हुं : हुं जेम जेम रीझव, सरके करेथी,

मैं : सेवा करने गया तो खुद ही ले ली सेवा
न रही अब ये कामनाएं !

वह : मिल जाएंगे और भी मुख देखने को !

मैं : मेरे शरीर की सब शिराओं में
उड़ाओ तुम रुधिर-शीकर,
और देख लो बिन्दु-बिन्दु पर अंकित
कितने हो चेहरे अनूठे।

वह : होगी क्या एक ही मुख की मुद्रा प्रत्येक मुख पर
या दो की ? या फिर···?

मैं : पूछो मत मुझे बस चीज यह एक, छोड़ो !

वह : अलग रहोगे संसार में ?
नहीं बहोगे स्वजनों के हृदय में ?

मैं : अरे हाँ, स्वजन ! और हृदय !
मेरी गोद में निशदिन विश्रंभ में सोने वाले जो,
जरा आ जाने पर मुझे झपकी,
वे ही रहते है आगे मेरा गला घोट देने में।

वह : तभी तो दीखती है कंठ की हलक खीली खूब !
रिझाना भी होगा हठीली दुनिया को !
कहो, क्या करोगे ?

मैं : कुछ नहीं; हूँ थोड़ा सगर्व।
जिनसे मैं वंचित, है मुझसे भी वे सब।
नहीं भटकूँगा जग के पीछे।

वह : चलेगा कैसे ऐसा ? रे भले !
अदा करना जगत् का भी कर्ज़।
जो कुछ हो तुम, वह सारा
नहीं है क्या उसकी वजह ?

मैं : मानता रहूँ मैं ज्यों ज्यों,
खिसकता जाता वह हाथ से,

रीझे स्वयं कदी वळी धमी आवां होंसे,
दोलायमान दिनरात प्रमादरोपे.
पाम्यो कंईक, अहह ! आखर किन्तु हारो
खोव, खुवार थवु !

ते : रे धर्मी प्रमादी !
तुं देख के जगत छे थयुं कोटन्युं ?
तो कां रिबाय ?

हुं : बहु वार छ चित्त हुने.

ते : रे ए, बधी सुमन के ममता तजीने,
सोंप अने कवच-निःस्पृहता मंजीने,
तु थम गुप्तचर जेम भविष्य केरो
ने कोटने तुज हजी नहि वाकव्हेरो
जो मंडपो विविध मानवना-लचेल,
जो रंग जे निरवधि अहीं छे मचेल.
जो ऊर्मिपूर वहतां करी तुघवाट,
मींढी अने हृदयशैल्य तणो थपाट.
खाखी तुं धोमधखतां कंई चित्त देख,
हैयानो पानखर कोई रखे उवेख.
जो प्रीतिमां स्फुट निरस्कुनि जे थती ज,
शका-अमास पछीं ऊगतो भाव-बीज.
जो अश्रुमा लपकतां कंई हास्य छाना,
घोळ्यां स्मितासव महीं गरलो वृणानां,
वैरो तणां नभउछाळ वृशावलोणां.
जो तंतुतंतु तूटतां सुकुमार सोणां.
वंटोळ देख चगता जरी मौनमांथी,
जो शांतिनुं धडकतुं उर गर्जनाथी.
जो कार्य, कंकर शके डूवता समुद्रे,
आलस्य सौ विलसतां वळी नृत्य रुद्रे,

कभी रीझ कर स्वयं थम आता हास में,
होता दोलायमान वह दिनरात प्रसाद से रोष में,
पाया कुछ, पर आखिर हार कर खोना,
होना तबाह !

वह : ओर रखनी खुमारी !
सोच देखो कि हुआ है जग किसी का भी ?
तब फिर क्यों इतना सताते हो स्वयं को ?

मैं : बहुत समझाता चित्त को न भी ?

वह : रे यह सारे हठ और सा[illegible] तज कर
सरसता काच निस्पृहता [illegible] मन कर
देखते रहो बन कर भविष्य के गुप्तचर,
न हो तुममें दोष या भेदभाव किसी के प्रति ।
देखा करो मानवता से रचे विविध मंडप
देखो जो सजे हुए हैं यहाँ निखरित रंग,
देखो घहराती बहती ऊर्मिबाढ़,
थपेड़ सहता और हृदय गह्वरभरी ।
उग्र धारा में ताने देखो तुम खाकी चित्त,
सह करो उपेक्षा हृदय की किसी पतझड़ की ।
देखो शांति में स्फुट होती हो जो निरस्कृति,
गकी को अमा के बाद उगती दूज-कला भावना की ।
देखो अधरों में छिपे लाखों हास्य,
स्मितासव में घोले हुए घृणा के गरल ।
नभ तक उछलते बैरों के वृथा विलोल,
और देखो तनु-तनु टूटते सुकुमार स्वप्न ।
देखा करो मौन में उमड़ते बवंडर,
और गर्जना में धड़कता शांति का हृदय ।
देखो कण मानो सागर में डूबते कंकर,
रुद्र नृत्य में विरमते सारे आलस्य,

नैराश्यमां मलपती अनिवार्य आशा,
जो कीर्तिकामणफसेल तणा तमाशा.
दुर्दम्य रहे नीरख उद्धत यातनाओ,
सत्ताप्रमाद वळी मौनविमाननाओ.

ने कोईने न तक दे तु प्रतारणानी,
गाडो तु—ए नव रहे ज वडाश शानो ?
बेसी बिमार जनना बळता उशीके
रातोनी रात नीगम्यु क्रयम भान्त थीके ?
ने जाय जो उतरडी यम मामलोचो,
रे शो कुटुम्बजन-देह विलाय पोचो !
आ जोर्णशीर्ण विधिवचितनी जवानी,
जो ! जो ! पण भभूकती कई होळी छानी.
आ जूथ एक धमतु गणी अन्य भक्ष्य.
आ राष्ट्र अवरने ग्रस एज लक्ष्य
आ वर्ग एक ऊनतः अहा लोहपजा !
आ द्वंपथी प्रगट जो विग कुष्ठजाणा !
दुर्भिक्षनु डमरु ने स्वर रक्त रेले,
कंकाल जो प्रलयताडव घोर खेले
पेल शम्य शिशु स्की स्तनडीटडीए,
त्यक्तानी आ थवी प्रसूति कई घडीए !
को गर्भनो लच्क अकुर जो स्फुरत —
ने एनी ए ज घटमाळ, न कयांई अत
आखे भरी हृदय, नम त गृष्टिचोक
लोके त्रिकाल लसता कुशलो विलोक;
आ विश्वकोष मभरो तुजने प्रपन्न,

नराश्य में चमकती अनिवार्य आशा,
और देखो कीर्ति की कामना में फँसे हुए तमाशे
दुर्दम्य रह कर देखो, उद्धत यातनाएँ,
सत्ताप्रमाद और मौन-विमाननाएँ।
और तुम यदि नहीं देते किसी को
प्रतारणा का अवसर,
ना-समझ हो, कैसे टिक पाएगी है ऐसी बड़ाई ?
बीमार के दहकते तकिये पर बैठ कर
रातों तक निरखा किया कैसे तप्त भाल ?
उधेड़ जाए यम यदि मांस का लौंदा,
पड़ जाते कैसे ढीले कुटुम्बी जनों के शरीर !
विधिवंचित का यह जीर्णशीर्ण यौवन,
देखो, देखो, भभक रही वहाँ कितनी ही
होलियाँ छुपी।
धँसता यह एक समूह अन्य को मानकर भक्ष्य
दूसरे को निगल जाऊँ यही इस राष्ट्र का लक्ष्य।
एक वर्ग उठा रहा यहाँ लोह-पंजा !
उस द्वेष में देखो प्रकट युद्ध के चिर झंझावात !
दुर्भिक्ष का बजता डमरू और रेलता स्वर रक्त को,
देखो, खेल रहे कंकाल घोर प्रलयतांडव !
सहम गया वह शिशु स्तन की सूखी चूची पर;
होगी इस त्यक्ता को प्रसूति किस क्षण !
किसी गर्भ का स्फुरित होता लघु अंकुर—
और वही का वही चक्कर, न कहीं अंत।
आँखों में भर कर हृदय,
घूमो तुम सारे सृष्टिचौक।
इस लोक में देखो त्रिकाल-लसते कुशल।
प्राप्त तुम्हें यह सभर विश्वकोष

तुं झूम मुग्ध रसलुब्ध अलि प्रसन्न.

हुं : ना, रे ! प्रवंचक, मने ललचावी नाख
भट्ठी विषे अनुभवोनी. न रहे राख
अंते; थवुं अमर कें करतां ज तारे,
एमां मने मफत गर्दन शीद मारे ?

ते : जाणुं छुं तारी शुभ दानत, एकलो तुं
टूंपो मने दई, चहे जीववा ! खरो तुं !

हुं : केमेय रे न छूटवो तुं लख्यो ललाटे,
के कल्पीये शकुं न तुं विण सूनी वाटे
आयुष्यनी भटकवुं.

ते : कहुं हुंय ए ज.
जो जीववुं अवध आ भरी पूरी छे ज,
जो जीववानी चळ ना जीरवाय केमे,
आयुष्य, ने, वही जवानुं ज छे ज एमे,
तो गा अने शमव कैंक.

हुं : वळी फसावे ?
कैं वार तो तुं अमथां दळणां दळावे,
को ओरणुं अधवचेथी ज खाई जाय,
ने घंटीनां पड परस्पर बे घसाय.

ते : ए तो कसोटी; न गणीश भला ! घसारो
काचो बराबर पचावी जवो ज पारो.

झूमो इसमें प्रसन्न,
बनकर मुग्ध रसलुब्ध भ्रमर,

मैं : रे प्रवंचक !
मत डालो मुझे लुभाकर अनुभवों की भट्ठी में,
न बचेगी राख भी अन्त में,
हो जाना है अमर तुम्हें किसी भी तरह,
मुझे क्यों इसमें गरदन मारते मुफ्त ?

वह : जानता हूँ तुम्हारी शुभ वृत्ति को,
घोट कर मेरा गला, जीना चाहो अकेले !
पक्के हो !

मैं : नहीं टलोगे तुम इस भाग्य से किसी प्रकार
या कल्पना भी नहीं कर पाता कि होगा
तुम्हारे बिना जीवन को सूनी राह में भटकना।

वह : कहता वही मैं भी।
जीना है यदि, है पूरी भरी अवधि,
और यदि न हो सहन कैसे भी जीने की खुजली,
जीवन को यदि
वह जाना है यों ही,
तो, गाओ और शमित करो, कुछ।

मैं : फिर मुझे फँसाओगे ?
कितनी ही बार तो तुम बिलावजह
पिसवाते पीसना
बीच में खो जाता पीसने में कोई,
और चक्की के दोनों पाट
घिसते रहते परस्पर।

वह : यह तो कसौटी है;
मत मान लेना भला, इसे घिसाई;
पचा जाना है यह तो कच्चा पारा।

का आपी कांवन करे बस मस्त रातो.
रुंवे रुंवे नीकळशे सहु फूटी कां तो
छोने पड्यां पथ विषे जीवलेण विघ्न,
रे खेलवो ज बस दाव ! न कम्पने ज्ञ ।
ले, जाउं.

हुं : ना ! मिलनवोल विना रखे जा !

ते : क्यारे प्रसन्नमन प्रेरु हु तेम तेम
उल्लासभेर हसते मुख ते लख्ये जा,
तु प्रेमपत्र लखतो बस होय एम

[२०-८ १९८४]

या तो देकर ताक़त
करेगा रक्तिम मस्त,
या तो फूट निकलेगा वह रोम-रोम।
भले ही पड़े हों पथ में घातक विघ्न,
रे खेल देना ही दाँव ! 'न कम्पते ज्ञः।
अच्छा तो, जाऊँ।

मैं : ना, मत जाओ बिना किये वादा—
बिना कहे मिलन-बोल !

वह : प्रेरित करूँ मैं जब कभी प्रसन्नमन,
लिखते जाओ उल्लास से हँसती सूरत
ज्यों लिख रहे हो प्रेमपत्र !

[२०-८-१९४४]

## ‘वसंतवर्षा’ से

## पराढियुं

मे मुख भविष्य भणी फयुं,
अनुभव्यु स्वर्गीय हृदय-परोढ्य
ने भूत प्रति मटक भयुं,
जागी ऊड्या स्वप्ना पड्या जे गुप्त वाळा सोडियूं.

माळाभर्या पखी तणा कलरव महीं
गधमत्त वसुवगानु गूढ सर्जनहास—
अमियल आभनो द्युतिभर विशद उल्लास—
गूज्या करे, उरतत्रीने छड्या वगर छोडे नहीं.

[३१-१२-१९५३]

## प्रत्यूष

मैने मुख भविष्य की ओर किया,
अनुभव किया स्वर्गीय हृदयप्रभात का।
और अतीत पर भी एक दृष्टि फेर ली,
जग उठे स्वप्न
सोये थे जो लम्बी तान कर।

नीडो भरे पछियो के कलरव मे
गधमत्त वसुधरा का गूढ मर्जन-हास,—
अमिय नभ का ध्वनिभरा विशद उल्लास—
गूजता रहता
—नही छोडना
उपन्त्री को छेडे बिना।

[३१-१२-१९५३]

## बगलांनी पांखो

नभे हारबंध बगलांनी पांखो
ए तो चोरी लई जाय मारी आंखो.

काळांकाळां वादळनी छाई नभ छाया,
तरे एमां साज-नेज-भरी श्वेत काया.
हळवेथी जाय छे लगाडी मने माया.
एने कोई तो जरीक राखी राखो.
ए तो चोरी लई जाय मारी आंखो
नभे हारबंध बगलांनी पांखो.

[२५-६-१८६-]

## बगुलों के पंख

नभ में पाँती-बँधे बगुलों के पंख,<br>
चुराये लिये जातीं वे मेरी आँखें।<br>
कजरारे बादलों की छायी नभ छाया,<br>
तैरती साँझ की सतेज श्वेत काया।<br>
हौले हौले जाती मुझे बाँध निज माया से।<br>
उसे कोई तनिक रोक रक्खो।<br>
वह तो चुराये लिये जाती मेरी आँखें<br>
नभ में पाँती-बँधी बगुलों की पाँखें।

[२५-९-१९४७]

## डाळी भरेलो तडको

में तो डाळी भरेलो दीठो श्रावणनो तडको,
एने शामा हु मघरी लउ ?
एने शामा हु मभरी लउ ?

हाली पडशे अदेखी हमणा आ वादळो,
ढोळी रहेशे वधे श्याम एनी छायडी,
आछा सरवडे तडको जशे गळी,
एने शामा हु मभरी लउ ?

वर्षाना हैयानो ऊघड्यो उमळको
एने हैयामा हु भरी लउ.
डाळीभरेला पेलो श्रावणनो तडको
एने हैयामा मघरी लउ.

[६-६-१६५०]

## डालोभरी धूप

मैंने तो डालोभरी देखी सावन की धूप,
उसे मैं किसमे भर लूँ ?

सरक आयगी अभी वह ईर्ष्यालु बदरी,
फैलायेगी सब जगह अपनी कालो छाया,
हलकी बोछार से निगल लेगी धूप,
उसे मैं किसमें भर लूँ ?

वर्षा के हृदय को खुल गई उमग,
उसे मैं हृदयमे भर लूँ।
डालीभरी वह सावन की धूप,
उसे मैं हृदय में भर लूँ।

[६-६-१६५०]

## क्यारनो बोले छे कोकिला

ऊडे न ऊघ मारी सभळाये शोर ना,
क्यारनी बोले छे कोकिला.
वर्षाना मेहभीज्या वहेला पहोरना
क्यारनी बोले छे कोकिला

ऊठ रे ओ चित्त, तने शी रीते जगाडीए ?
उरना एकान्तनी आत्रा ते वाडीए
घेरी सौरभभरी सपनानी डाळीए
क्यारनी बोले छे कोकिला.

पूर्वमा उषाना जरी पलके छ पोपचा,
सुषमाथी दिशादिशना अगअग जो लच्या !
रंगनी उजाणीए आ सृगा कुसुमो मच्या !
क्यारनी बोले छे कोकिला

विश्वना सगीतन ऊमग्य छे मत्त पूर,
आखो धराय मारी सूण न सूण सूर.
चेतनने साद देती रसघेली दूर दूर
क्यारनी बोले छे कोकिला

वर्षाना मेहभीज्या वहेला पर[illegible]ना
ऊडे न ऊघ. [illegible] [illegible] कलश[illegible]
क्यारनी बोले छे [illegible]

[illegible]-[illegible]-१९५[illegible]]

## कबकी बोल रही है कोकिला

टूटे ना नींद मेरी, सुन पड़े शोर नहीं
कबकी बोल रही है कोकिला।
वर्षा के मेहभीगे पहले प्रहर मे
कबकी बोल रही है कोकिला।

उठ रे ओ चित्त तुझे किस तरह जगाये?
उर का एकान्त इस अमराई मे
गहरी सौरभभरी सपने की डाली पर
कबकी बोल रही है कोकिला।

पूर्व मे ऊषा की तनिक हिलता है पलक
सुषमा से दसों दिशा के अंग है भरे भरे!
रंग के उत्सव मे वे गूँगे कुसुम लीन हुए!
कबकी बोल रही है कोकिला।

विश्व के सर्गान की आयी है मस्त बाढ़
आँख उनींदी मेरी सुनूँ ना सुनूँ मे सुर।
चेतन को पुकारतो रसबावरी दूर प्रान्तर
कबकी बोल रही है कोकिला।

वर्षा के मेहभीगे प्रत्यूष में
टूट ना नींद, सुन पड़े कलनाद ना,
कबकी बोल रही है कोकिला।

[६-६-१९५०

## पानखर

झरझर झरे,
खरखर खरे
पर्ण आ पानखरे क्षिति परे.
पवन शो मूके दोट दडबड !
पांदडा हसी पडे खडखड.
अगवळगाड होय शु लाग्यो,
अहीथी तही जाय ए भाग्यो.
घडीमां हुहू करी सूसवे,
वृक्षना रसो रह्या मूकवे
नीकळ्या तरुने देह हाडका,
घटा गई, प्रगट थया माळखा.
नग्नो ए शाखप्रशाखा केरा
उझरडा द्यौदेवीना न्हेरा
उपर दे नोणा.
तीव्रस्वर बजे प्रकृतिनी वीणा.
व्योममा पीत पाण्डुर रवि,
नहि ताप बहु नहि तेज एहवी छवि.
शिशिर शा शीत श्वास अह भरे !
अहर्निश अविरत झरझर झरे.
पानखर-पर्णो खरखर खरे

[१६-१-१६४८]

## पतझर

झरते है झरझर
खिरते है खरखर
पर्ण ये पतझर में क्षिति पर,
पवन लगाता दौड दडवड!
पत्ते हुए पटने खडखड।
भूत सवार हुआ हो जैसे उस पर
यहाँ से वहा भागता रहता है।
क्षण मे सन् सन् सनसनाता,
वृक्षो के रस को सोख जाता।
हड्डियाँ निकल आई तरु की देह पर,
हरित छटा गई
उभर आया ककाल,
नाखून ये शाखा-प्रशाखाओ के
द्यौदेवी के चेहरे पर
तीक्ष्णता से भरते है खरोच।
तीव्र स्वर मे बजती है प्रकृति की वीणा
व्योम मे पीत पाण्डुर रवि,
नही अधिक गर्मी,
नही अधिक तेज ऐसी छवि,
शिशिर कैसे शीत श्वास भरती है!
अहर्निश अविरल झर झर झरते है
पतझर के पत्ते खर खर खिरते है।

१६-१-१९४८]

## कविनुं मृत्यु

[डिलन टामसना मृत्यु प्रसंगे]

कविनुं मृत्यु ! पत्रोमा समाचारो जगतना,
कई क्लेशो कंई द्वेषो तणा, मनना ममतना.

बधा वच्चे फकत बे पंक्ति उच्चरती
'कविनु मृत्यु' मृगी ने महाकोलाहल सरती :
जगतनी सरणीय अभिसरती, न जाणे :
भाग्यमाथी शु गयु ? वा शु रह्यु.

पृथ्वी तणी माटी घडी धबकी गई !
तारलानी तेजल्मोने निचोवी तेज पी झबका गई.

कविनु हृदय
जाणे सदय
पत्रोअर्यु आकाश,
शिशुनु हास,
के शरदना काशपुष्प तणो धवल उल्लास.

कविनु हृदय ते तो धवल ऊर्मितेज,
सरल निर्व्याज निर्मळ हेज,
सप्तरंगोनी कमानो टोकिया करती तही,
अप्तरंगी भावना-परीओ सुभग तरती मही.
किल्लोलतु कविहृदय सहसा मोनअक श्वसी रह्यु,
हवाथी आछुक आच्छादन धरा पर हूफनु मूकी गयु.

[१२,१३-१२-'५३]

# कवि की मृत्यु

[डिलन टॉमस की मृत्यु पर]

कवि की मृत्यु ! पत्रों में समाचार
जगत के, कितने क्लेशों के, कितने द्वेषों के,
कितने मत के दुराग्रह के।
इन सबके बीच
सिर्फ दो पंक्तियाँ कहती है- 'कवि की मृत्यु'
- गूँगी और महा कोलाहल में फिसलती।

जगत की सरणी चलती रहती है, न जाने :
भाग्य में से क्या गया ! या क्या रहा ?

पृथ्वी की मिट्टी कुछ क्षण धड़क गई।
तारों के तज-पुंज गुच्छों को निचोड़ कर
प्रकाश पी कौंध गई।

कवि का हृदय
मानो सदय
पक्षी भरा आकाश,
शिशु का हास,
या शरद के काश पुष्प का धवल उल्लास।

कवि का हृदय
यह ना है धवल ऊर्मिमन्त्र,
सरल निर्व्याज निर्मल स्नेह,
सप्तरंगा भावना-परियाँ सुभग तैरती है वहाँ।
कल्लोल करता कविहृदय सहसा मौन अंक में साँस लेता।
हवा में भी पतला आच्छादन धरा पर
ऊष्मा का छोड़ जाता।

[११, १३-११-'५३]

## गळता ढग अंधकारना

गळता ढग अंधकारना;
धरता आकृति ते क्रमेक्रमे.
क्षितिजे जळमाथी ऊपसे
अणजाण्या कई द्वीप-डुंगरो

नमणी घननील झूमती
वनलक्ष्मी हसता परोढमां.
पडखा पसवारतो रवि,
चळके स्वर्णनी रोमराजि त्यां.

एम. एम. चमान
[१२-१२-१९५७]

## गलते ढेर अंधकार के

गलते ढेर अंधकार के :
धारण करते हैं आकृति क्रम-क्रम से ।
क्षितिज पर जल से उभर आते हैं
अजनबी कुछ द्वीप-डूँगर ।

सुन्दर घननील झूमती है
वनलक्ष्मी मुसकाते प्रभात में ।
पहलू सहलाता है रवि,
चमकती है स्वर्ण की रोमराजि इतने में ।

एम एस. न्यूमान
[१२-१२-१९५२]

# आंखो धराती न

नवा नवां लोक, नवीन देशो,
भाषा नवी, ने वळी नव्य वेशो

हु आज आही, वळी काल नो क्यां ?
छे कोण केवा स्वजनो, जउ ज्यां ?
अफाट विस्तार सरे धराना,
आंखो धराती न, विराट पोना

हु मचरु छु सह आ प्रदेशमां
के हु मही सर्व थतो पसार ए ?
आ चित्त ने ए समरूप गा गृहे !—

आकार धारे मुज चित्त ए वहत
प्रदेशना, वृक्षनी कुज थै झूले,
गाढां वनोनी गहनान्धकार
भरीभरी शान्ति मही जई रचे,
माळो घटी ने भाग माही चंचल
हुलोळायला वगथा दोडता धमे
नदी नणी नीर-सपाटीए सरी
उत्तुग शृगो गिरिना मुरे त्र
वाने वळया श्यामनां गूढ दीप्तिथी,
त्होंची जई त्या मुज चित्त पोए
ए मातना स्तन्य शी मौनगोठडी.
थै मेघमाळा गिरि वींटतु, कदी
ज्वालामुखीना मुख शु भभूके
के को महासागरना प्रचड
कल्लोल-शु ताडवतालमा मचे.
लसे प्रसन्नोर्मि सरोवरे वा.

## आँखें नहीं भरतीं

नये-नये लोग, नये देश,
नयी भाषा, और नये वेश भी।

मै आज यहाँ और फिर कल कहाँ ?
है कौन कैसे स्वजन जहाँ जाना है ?
अपार विस्तार सरकते है धरा के
आँख नही भरती विराट पीन।

मै विहरता हूँ उन सभी प्रदेशो मे
या गुजरते है मुझसे मे ये सब ?
यह चित्त और वे, कैसे समरूप सुहाते है !

आकार धारण करता हूँ मेरा चित्त उन बृहत् प्रदेशो का
वृक्षों का कुंज बन कर झूलता है,
घन अरण्यों के गहन अंधकार मे
[illegible] आकर रचता है
[illegible] और शृंगार्ध मे चंचल क्षुब्ध
वन मे दौड पडता है
नदी की [illegible] पर।
उत्तुंग गिरि के [illegible] शृंग
[illegible] के ध्यान का गूढ दीप्ति मे,
[illegible] मेरा चित्त
साकार [illegible]-सा मौन गाम्भीर्य को।
बनकर मेघमाला आवृत्त करता गिरि को,
कभी धधकता है ज्वालामुखी के मुँह-सा,
या किसी महासमुद्र के प्रचण्ड
ताडव की ताल में कल्लोल-सा मग्न हो जाता है।
या फिर लसता है प्रसन्नोर्मि सरोवर पर।

ने काळमांये सरतुं घडीकमां
कैं कै शताब्दी थकी क्रीडतुं भमे.
पड्या अहीं आ इतिहासशेष,
कला नसे त्यां कमनीय. आ हसे
खंडेर ऊभां मनुयत्नमात्रने.
नवा नवा, नाय, रचायु ओ पणे
त्वराभर्या को इतिहासहर्म्य.

घडीक आंहीं, क्षणमा जई त्यां,
अनंतथी आ स्थलकाल कुंजमां
शुं चित्त संताकूकडी रम्यां करे !

ज्यां ज्यां जनं त्यां मनुबाल एने
सामो मळे, हास्य विलाप आशा
सर्वत्र ने मानवनां लसी रहे.
अहो कशी मानुष दिव्यता आ !
लसी रही दिव्य मनुष्यता आ !
साक्षात्करुं एह महाविभूति हु.

अफाट विस्तार सरे धराना,
धराय शे आंख्र पीतां प्रसन्नता ?
हुं आज आंहीं, वळी काल तो क्यां !
छे सर्व मारां स्वजनो, जवुं ज्यां.
नवा नथी लोक, नवा न देश,
भाषा नवी ना, नहि नव्य वेश

एस. एस. चुसान
[१६-१२-१९५३]

और काल में भी सरक जाता है क्षणेक में
कितनी शताब्दियों मे क्रीड़ा करता भटकता है।
पड़े है यहाँ ये इतिहास शेष
कला लसती है वहाँ कमनीय,
हँस रहे ये खडे खण्डहर मनुष्य के हर यत्न पर
फिर भी रचे जाते है त्वरा मे वहाँ, देखो,
कुछ नये-नये इतिहास- हर्म्य।

घड़ी में यहाँ, घडी में वहाँ पहुँच कर
इस देश-काल के कुज मे
चित्त कैसी तो आँखमिचौनी खेला करता है अनन्त मे !

जहाँ जहाँ जाता, होती है भेट
उसकी मनुज से।
सर्वत्र ही वह पाता है मनुष्य के हास्य, विलाप, आशा—
अहो कैसी है मानुष दिव्यता यह !
शोभित हो रही हे यह दिव्य मनुष्यता !
उस महाविभूति का मैं करूं साक्षात्कार।

अपार विस्तार सरकते है धरा के,
भर सकती है कैसे आँख यह प्रसन्नता पीते ?
मै आज यहाँ और कल फिर कहाँ ?
है सभी मेरे स्वजन, जाना है जहाँ।
नही है नये ये लोग, नये नही देश,
नही है नयी भाषा या नया वेश।

एस. एम. चुमान
[१६-१२-१९५३]

# हीरोशीमा

[हीरोशीमानी भस्मभूमिमा एक गोरा अफसरने छापाचित्रोमां नवे अणुबॉम्ब पड्या पहेलांना, नगरजीवनना दृश्यो- रस्तानो पुल, बळद दोरी जतो खेडूत अने निशाळे जती कन्या देखाया हता — अखबारी अहेवाल.]

हीरोशीमा......नागासाकी...
कहो, छे कै बाकी ?
नागासाकी...हीरोशीमा...
भाई, जरी धीमा !
आ गतिए वधशो ना भूगोलनी भस्म करी
स्मशान ललाटे काळचिराड शी दशा धरी
गर्भवती धरित्रीनी कूखे मृत गागर ढांक,
कहून, फरे छे थई महाविजयी निर्भीक !
भय तो खसी बहार बन्यो जराए जरी.
मर्यो तारा भीतरमां, मरदाना त्या वस्यो ठरी

अतरात्मा नहि--मात्र नरी आंख आ शु देखे ?
प्रलयवह्निय कही नहो काई लागतो लेखे ?
सर्वस्व अग्निमा गळी रसरूप बन्यु तोय
शेरीओने जोडनारो पुल पेलो कन्या शोय !
पेलो वळी पेलो धार जंगाना। हन चाले
ठदने दरी. खूब बळदनो केवो हाले !

खेडुना जोडानी फाटमांथी, ए चाले छे त्यारे,
डोकिया करे छे एना आंगळां. अने अत्यारे

# हीरोशीमा

[हीरोशीमा की भस्मीभूत धरती पर एक गोरे अफसर को छायाचित्र के रूप में, परमाणुबम गिरने से पूर्व के, नगरजीवन के दृश्य—रास्ते का पुल, बैल लेकर जानेवाला किसान और स्कूल जानेवाली लड़की——दीख पड़े थे। अखबार की खबर]

हीरोशीमा...नागासाकी
कहो, है कुछ बाकी ?
नागासाकी...हीरोशीमा...
भाई, जरा आहिस्ते !
इस गति से बढ़ोगे तो भूगोल को भस्म बना कर,
स्रष्टा के ललाट पर कालत्रिपुंड-सी दोगे धर।
गर्भवती धरित्री की कोख पर मार मुक्का-धप्पा,
कपूत, घूमता है बन महाविजयी निर्भीक !
भय तो खिसक कर बाहर सभी ओर से जरा-जरा
घुसा है तेरे भीतर,
हमेशा के लिए बस गया है वहाँ।

अंतरात्मा नहीं मात्र, केवल आँख
यह क्या देखती है ?
प्रलयवह्नि की भी अहो कुछ बिसात नहीं रही ?
सर्वस्व अग्नि में गल रसरूप बना तो भी
गलियों को जोड़ने वाला पुल वह बच गया कैसे !
और वहाँ वह धीरे धीरे जगत का पिता जाता है
बैल को खींच कर,
डिल्ला हिलता है कैसे बैल का !

जब वह चलता है
किसान के फटे जूते से झाँकती है उसकी उँगलियाँ।

निशाळनो समय थयो छे तेथी पणे पेली
कन्या त्वराभरी चाली जाय, अगाडी नमेली
हाथमां झालेली पाठ्यपोथीओना भार थकी.

केवो पुल !
केवो ते सुरभीपूत !
केवो वा हवे खेडूत !
केवुं के कौमारफूल !
तें तो बधु मृत्युमुखे होमी दीधु हतु छकी
शक्तिछाके; आजे हवे शाने पछी ए ज सर्व,
भाळवा करे ? ने सौय तारो तोडवाने गर्व ·
जे विज्ञाननी सहायथी तें तेनो कर्यो नाश
तेनी ज को गूढ प्रक्रिया थकी, थतां प्रकाश.
अथवा ते सदाभीरु आख नारी झख्या करे
नाशितोने ? तनेये ने अतरात्मा इछ्या करे !
तो तो कोई भविष्यमा तारे काज आशा हजी.

प्रणाश वटावी ते तो चिरतन रूप सजी
न-मर्या शां पीछो तारो लेशे सदाकाळ माटे.
कोण छे एवो जे भूसी शके अही पृथ्वीपाटे
अमूर्त ते मूर्तिओने, अनष्ट ते नाशितोने ?
अग्न्यस्त्र तु शक्तिमत्त वरसाव्यां करे छोने !

कन्या पेली चाली जाय असशय पदे, एना
दृढ बीड्या होठ बोले नीरव के छोडशे ना
स्वीकार्यु पोते जे महाकर्तव्य : पडे शीख्वीने

और स्कूल का समय हुआ है
इसलिए वहाँ वह लड़की तेजी से चली जा रही है,
आगे की ओर झुकी हुई
हाथ में थामी हुई पाठ्यपुस्तकों के भार से।

कैसा पुल !
कैसा वह सुरभीपूत !
या कैसा अब किसान !
या कैसा कौमार-पुष्प !
तूने तो सब मृत्युमुख में होमा था छक कर
शक्ति-मद में;
आज क्यों अब
वह सब देखने की चाह करता है ?
वे सभी तेरा गर्व तोड़ने को,
जिस विज्ञान की सहायता से किया उनका नाश
उसकी ही किसी गूढ़ प्रक्रिया से होते हैं प्रकट।
अथवा वह सदा भीरु तेरी आँख तरसती है
नाशितों के लिए ?
तुझे भी अंतरात्मा तेरी कोसती है क्या ?
तब तो भविष्य में तेरे लिए अब भी है कुछ आशा।

प्रणाश पार कर वे तो चिरंतन रूप लेकर
अ-मृत से तेरा पीछा करेंगे सदा के लिए।
कौन है ऐसा जो मिटा सके यहाँ इस पृथ्वी पट पर
अमूर्त इन मूर्तियों को ? अनष्ट उन नाशितों को ?
तू शक्तिमत्त अग्न्यस्त्र की वर्षा भले ही करे !

चली जाती है वह कन्या असंशय पद से,
उसके दृढ़बंद ओठ बोलते हैं नीरव
कि छोड़ेगी नहीं वह महाकर्तव्य, जो स्वीकारा है :

शीखवशे सौने सहेवानुं,—जेम जन्म दंने
बाळने माताओ करे अनर्गल वेदना ने
यातनाओ सहन, हा ! तेम ज के कै बहाने
सहेवानु शीखवशे शीखीने स्वयं; वळी
छोडशे के अधिकार माता मानवता नणी
थवानो प्रकृतिदत्त सदानो मळ्यो जे ऐने ?

अने पेलो खेडु—ने बळद मूगो साथे छेने
तेय—श्रद्धाशब्द पूरे सृष्टिना हृदय मांही :
जे कै वमे मानवीओ, साथी पशुओ वा आंही,
ते सर्वनु पेटपूर पूरु पाडश ज अन्न
अमे, तमे बेमो शान्त लोहीए थई प्रसन्न.

अने पेलो पुल कहे छे के बे शेरी ज नहीं,
आडशो जे देशदेश जातिजाति वच्चे रही
तेने साधनारो सेतु बनी हु रहीश, साथे
सामसामा हृदयोने भेटीश हु एक बाथे.

भले अमानुषितानी मनुष्ये बतावी सीमा,
—नागासाकी..., हीरोशीमा..
अने तो मनुष्य सामे अमानुषिता ज थाकी
हीरोशीमा...नागासाकी...

[३०-३-१९४६]

खुद सीख कर सभीको सिखायेगी सहना,—
ज्यों जन्म देकर बालक को
माताएँ करती हैं सहन
अनर्गल वेदना और यातनाएँ,
हाँ ! वैसी ही किसी न किसी बहाने
सिखायेगी, सहना सीख कर स्वयं
और छोड़ेगी क्या मनुष्यत्व की माँ होने का अधिकार
प्रकृत्तिदत्त, सदा का जो उसे मिला ?

और वह किसान और गूगा बैल
वह भी श्रद्धा-शब्द भरता है सृष्टि के हृदय में;
जो कोई बसता है यहाँ मनुष्य या साथी पशु
उन सभी के लिए भरपेट अन्न जुटायेंगे हम,
तुम बैठो शान्त रक्त से हो प्रसन्न ।

और वह पुल कहता है कि सिर्फ़ दो गलियों को ही नहीं,
दीवारें जो देश-देश या जाति-जाति के बीच हैं—
उनको जोड़नेवाला सेतु बनकर रहूँगा मैं,
साथ ही आमने-सामने के हृदयों का आलिंगन करूँगा मैं

भले ही अमानुषिता की मनुष्य ने दिखाई सीमा,
—नागासाकी...—हीरोशीमा...
अंत में तो मनुष्य के आगे अमानुषिता ही थकी ।
हीरोशीमा. .नागासाकी...

[३०-३-१९४६]

## जीर्ण जगत

मने मुर्दानी वास आवे !
सभामां समितिमां घणां पंचमां, ज्यां
नवा निर्माणनी वातो करे जुनवाणी जडबां,
एक हानी पूठे ज्यां चली वणझारमां हा,
—मळे क्यांक ज अरे मर्दानगीनी ना,

परंतु एहने धूत्कारथी थथरावता करतां,
विचरनां मंद नित्ये,
श्वास लेतां अर्धसत्ये ने असत्ये,
जरठ हो क्यांक-क्यांक जुवान खासां,
निहाळी भाविने खातां बगासां,—
दई भरडो मडानो सत्यने गूंगळावता करता
मने निशदिन बुझायेलां दिलोनी वास आवे !

मने मुर्दानी बू सतावे !
भलेने फूलथी ढकायलां रूपे विहरतां,
शबो समाजना शीखरेथी शिखरे विचरतां !
जंगलोमां काष्ठ तो खूट्यां नथी,
खुरशीओ घडाये जाय छे कँ अणकथी.
बागमा पुष्पोय खील्ये जाय छे,
ने डोक शणगाराय छे,
अचेतननी आरतीमां चेतना होमाय छे.
हे रुद्र, हे शिव ! सद्य उठो,

## जीर्ण जगत

मुझे मुर्दों की बू आती है !
सभा में, समिति मे, अनेक पचों में,
जहाँ नये निर्माण की बातें करते है दकियानूस जबड़े,
एक 'हाँ' के पीछे चलती है जहाँ कतार मे 'हाँ'
—मिलती है क्वचित् ही मर्दानगी की 'ना,'—
किन्तु उसको दुतकार से डराने की चेष्टा वे करते,
मद जो चलते है नित्य,
साँस लेते है अर्धसत्य मे, असत्य में,
प्रौढ़ है कही तो है कही जवान खासे,
देख भावि को लेते है जँभाई
लेकर पक्की लपेट मे सख्त
सत्य का दम घोंटने को चेष्टा करते,
बुझे दिलों की मुझे दिन रात आती है बू !

मुझे मुर्दो की बू सताती है !
भले ही फूलों से ढँके रूप में विहरत हो,
शव विचरते है समाज के शिखर मे शिखर पर ।
जंगलों में काठ की तो कमी नही है,
कुर्सियाँ बनती जाती है कितनी ही अनगिनत,
बाग में फूल भी खिलते जाते है
और गले के श्रृंगार बनते जाते है,.
अचेतन की आरती में
चेतना की आहुति दी जाती है ।

हे रुद्र, हे शिव
उठो सद्य

हाथ डमरु लई जग आ जीर्णनी उपर ऋुठो !
जे सड्युं, मरवा पड्युं ते सर्वड्नु खातर करी,
नवा गोपे नवा माले करो भोम हरीभरी,
भूतना आ मृत्युपुंजथी नवा मर्दा जगावो,
चैतन्यदंना अट्टहासे जग हसावो !

[२३-१०-१९४८]

नानानां मोटाई

मोटाओनी अल्पता जोई थाक्यो,
नानानी मोटाई जोई जीवु छु.

[६-८-१९४९]

डमरू हाथ में लेकर इस जीर्ण जग पर
कृपा करो ।
जो सड़ गया है,
मरणासन्न है—
उन सभी की खाद करके
नये पौधों से, नयी फसल से धरती हरियाली कर दो,
भून के इस मृत्युपुंज से नये मर्दों को जगाओ,
चेतनाभरे अट्टहास से जगको हँसाओ ।

[२३-१०-१९४८]

## छोटों की बड़ाई

तंग आ गया हूँ
बड़ों की अल्पता मे
जी रहा हूँ
देख कर छोटों की बड़ाई ।

[६-४-१९४९]

## आ दुनियानी महाप्रजाओं

हुं एक रमकडुं सिंगापुरथी साथे लेतो आव्यो छुं.
कागळपेटीमां बे बळिया पूरो बगलमां लाव्यो छुं.
एके भूरी, लाल बीजाए चड्डी टूंकी चडावी छे;
बेय ऊभा पैंडा पर बांय चडावी; नीचे चावी छे.
चावी दीधी मूक्या छुट्टा, तरत शरू बाथंबाथी :
'ले तुं !' 'तुं लेतो जा !'—चाले. हस्ये जाओ अचंबाथी.
हमणां लाल हठ्यो, त्यां तो ओ भूरो लोथ थयो दीसे;
जेर करी झींके मुक्का, मस्तक भटकाय महा रीसे.
पाछळ खसता, आगळ धसता, आखर तो र्हे त्यांना त्यां.
चावी ऊतर्ये, हाथ वींझता फोगट, डोले ऊभा ज्यां.
आ दुनियानी महाप्रजाओनी चावी न शुं ऊतरशे ?
के आने कळ फरी दईए त्यम तुंय, प्रभु, दीधां करशे ?

[१६-५-१९५३]

# दुनिया की ये महाप्रजाएँ

मैं एक खिलौना सिगापुर से साथ मे लेता आया हूँ ।
कागज के बक्स में कर बन्द दो पहलवानों को
बगल में दाब लाया हूँ ।
एक ने नीली, दूसरे ने लाल निकर पहनी है,
दोनों खड़े पहियों पर, बाँहें चढ़ाये, नीचे चाबी है ।
छोड़ दिया चाबी देकर शुरू हो गई मुठभेड़ तुरन्त ।
'ले तू' 'ले तू भी'—चलता । हँसते रहे अचंभे से ।
अभी लाल पीछे हटा, इतने में नीला
थकान से चूर दिखाई पड़ा ।
बड़े जोर से देते धूँसा, सिर टकराते बड़े क्रोध में,
पीछे हटते आगे बढ़ते, आख़िर वहीं के वही रहते ।
चाबी उतरते ही वृथा हाथ हिलाते,
डगमगाते खड़े जहाँ के तहाँ ।
इस संसार की महाप्रजाओं की चाबी क्या नही उतरेगी ?
चाबी भरते ज्यों हम इनमें,
प्रभु तुम भरते रहोगे उनमें ?

[१६-५-१९५३]

## दे वरदान एटलुं

स्वतंत्रता, दे वरदान एटलु :
न हीनसंकल्प हजो कदी मन;
हैयु कदीये न हजो हताश,
ने ऊर्ध्वज्वाले अम सर्व कर्म
रहो सदा प्रज्वली, ना अधोमुख;
वाणी न निष्कारण हो कठोर;
रूंधाय दृष्टि नहि मोहधुम्मसे,
ने आंखमांनी अमी न सुकाय;
न भोमका गाय वसूकी शी हो!
वाणिज्यमां वास वसंत लक्ष्मी,
ते ना निमंत्रे निजनाश स्वार्थथी,
स्त्रीओ वटावे निज स्त्रीत्व ना कदी,
बने युवानो न अकालवृद्ध,
विलाय ना शैशवनां शुचि स्मितो;
धुरा वहे जे जनतानी अग्रिणो,
ते पंगते हो सहुथीय छेल्ला;
ने ब्राह्मणो--सौम्य विचारको ते
सत्ता तणा रे न पुरोहितो बने.
अने थईने कवि, मागु एटलु—
ना तु अमारा कविवृन्दने कदी
झूलन कोने पर पिजराना
बनावजे पोपट, चाटु बोलता.
स्वतंत्रता, दे वरदान आटलु.

[१५-८-१९५२]

## वर दे इतना

स्वतंत्रता, तू वर दे इतना :
मन न हो कभी हीन-संकल्प,
हृदय न हो कभी हताश;
और हमारे सब कर्म
सदा प्रज्वलित रहें ऊर्ध्वज्वाला में,
अधोमुख न हों;
निष्कारण कठोर न हो वाणी;
अवरुद्ध न हो जाय दृष्टि मोह के कोहरे में,
और सूख न जाये आँख का अमृत;
धरती न हो दूध न देनेवाली गाय-सी।
वाणिज्य में निवास करती है लक्ष्मी,
वह अपने स्वार्थ से नाश का न्यौता न दे।
स्त्रियाँ अपने स्त्रीत्व को भुनाएँ न कभी,
नवयुवक कभी असमय वृद्ध न हों,
मुरझायें न शैशव के शुचि स्मित;
धुरा वहन करते हैं जो जनता की
वे अग्रगामी पंक्ति में हों सबके पीछे,
और ब्राह्मण,—सौम्य विचारक,
सत्ता के पुरोहित न बनें।
और कवि होकर माँगता हूँ इतना :
हमारे कविवृंद को कभी
किसी के हाथ में झूलनेवाले पिंजरे के तोते न बनाना
जो सिर्फ़ ख़ुशामद की बोली बोलते हैं।
स्वतंत्रता, तू वर दे इतना।

[१५-८-१९५२]

## त्रण अग्निनी अंगुली

[गांधीजीनी हत्या प्रसंगे]

त्रण अग्निनी अंगुली वडे
प्रभु, चूंटी लीधुं प्राणपुष्प तें.
वर एवी विभूति स्पर्शवा
न घटे अग्निथी ओछुं शुद्ध कें.

[मार्च, १९४८]

## तीन अग्नि की अँगुलियाँ

[गांधीजी की हत्या के प्रसंग पर]

तीन अग्नि की अँगुलियों से
हे प्रभु, चुन लिया तूने
प्राणों का यह पुष्प।
ऐसी वर विभूति को छूने के लिए,
चल सकता नहीं कुछ
अग्नि से कम शुद्ध।

[मार्च, १९४८]

## —अंत ए कलिचक्रनो

यमुनाने तटे जन्मी, खेली, दुष्ट जनो दमी
स्थाप्यां स्व-भूमिथी च्युत स्वजनो अन्य देशमां;
अने भारतना युद्धे निःशस्त्र रहीने स्वयं,
हस्तिनापुरमां स्थाप्यो धर्म, ने धर्मराजने
लोककल्याणनां सूत्रो सोंपी, पोते प्रभासमां
यथाकाळे पुण्य सिंधुतोरे सोराष्ट्रमां शम्या
पारधीशर झीलोने धर्मगोप्ता नरोत्तम.
अने आतुर ऊभेलो प्रवर्त्यो त्यां कलियुग.

जन्मी सौराष्ट्रना सिंधुतीरे, स्वभूमिभ्रष्ट सौ
स्वदेशीजनने स्थाप्यां गौरवे परदेशमां,
दुष्टता दुश्चरितता दमी सर्वत्र भारते
निःशस्त्र युद्ध जगवी, करे धारी सु-दर्शन
चक्र, श्रीस्मित वर्षतु, स्थापी हृदयधर्मने
हस्तिनापुर-दिल्ही-मां, धर्मसंस्थापना-मच्या
झीली स्वजननी गोळी यमुनातट जै शम्या.

हजीये आवशे ना के अंत ए कलिचक्रनो?

[१२-४-१९४८]

## अन्त इस कलिचक्र का।

यमुना के तट जन्म लेकर, लीलाएँ करके,
करके दुष्टजनों का दमन,
स्वभूमि-च्युत स्वजनों के लिए रचे अन्य प्रदेश में संस्थान;
और भारत के युद्ध में स्वयं रह कर निःशस्त्र,
हस्तिनापुर में धर्म को किया स्थापित,
और सौंप कर धर्मराज को लोक कल्याण के सूत्र,
सौराष्ट्र में यथाकाल प्रभास के सिंधु तट पर
पारधी-शर से विद्ध होकर
धर्मगोप्ता नरोत्तम हुए चिर शान्त।
और हुआ प्रवर्तित्त आतुरता से खड़ा कलियुग।

सौराष्ट्र के सिन्धुतीर पर जन्म लेकर
स्वभूमि-भ्रष्ट सब स्वदेशी जनों को
विदेश में किया सगौरव स्थापित;
दमन किया सर्वत्र दुष्टता, दुश्चरितता का;
भारत में छेड़ कर निःशस्त्र युद्ध,
हाथ में धारण किए श्रीस्मित बरसता मु-दर्शनचक्र,
स्थापना की हृदयधर्म की हस्तिनापुर-दिल्ली में।
धर्म-संस्थापना में लीन,
खाकर गोली एक स्वजन के हाथों
यमुनातट पर चिर शान्ति में सोये।

क्या अब भी होगा नहीं अन्त
इस कलिचक्र का ?

[१२-४-१९४८]

## जुए ते रुए

जुए ते रुए, भाई जुए ते रुए,
एनी आंखलडी अमथी चूए.
जुए ते...

उघाडी आंखे जेने जरीके न सूझे,
सुखियो ए रातदिन सूए.
जुए ते...

दखे तेने तो जोवो खेल खलकनो, ने
सळग्यां करवानुं रूवे रूंवे.
जुए ते...

आंखोने कूवे कांई न्होये अखूट पाणी,
जगना ए डाघ शेणे धुए ?
जुए ते...

आवे क्यारेक क्यांथी अणसारा संतोना, ने
एनी ए आख रुए ने बीजी लुए.
जुए ते...

[११-१-१९५१]

## जो देखे सो रोये

जो देखे सो रोये रे भाई, देखे जो सो रोये,
उसकी ही आँखें नित झर झर।
खुले नयन, देखे न किन्तु कुछ
वही रात-दिन सुख से सोये।
देखे, उसको खेल खलक का लखना
और रोम-रोम जलते रहना।
आँख-कूप में कब अनन्त जल,
जग के दाग कहाँ से धोये ?
जब पा लिया इंगित संतों के
एक आँख वह रोये
और दूसरी पोंछे।

[११-१-१६५१]

## सर्जन

धरा थरर धूजती प्रखर वज्र शा त्राटके !
चळे गगनसूर्य शुं ? अचलशृंग डोलती रखे !
फरे पडखु कूर्म, शेष सळक्यो अकाळे शके ?
महाप्रलयवायु धूम्रतमसो वमतो वहे !
पुनः क्षितिजरेख त्यां प्रगटती ! शी अग्निच्छटा !
प्रचंड विलसी रहे सतत वह्नि धक्धक् थतो
तडित्प्रभ स्फुरे ऊडे कपिलरक्त ज्वालाजटा,
दिगंत सुधी अद्रि अग्निरस ऊभराव्ये जतो

वह्यो समय, शांत अग्निरस ए थयो ने ठर्यो,
क्रमे गगनमेघ धारअभिषेक झील्यो [illegible]
थयो मृदुल मृत्-स्वरूप सहसा ऊगी नीसर्यो
अहो लघुक सौम्य अंकुर, कळी फुटी ने खीली,
प्रफुल्लदल पुष्प त्यां हस्युं, हस्यो ज ज्वालामुखी:
हती फकत आ ज आश, फळी हा ! बस छुं सुखी!

[१४-१०-१९४७]

## सर्जन

काँपती है धरा थर थर
प्रचंड वज्र के आघात से !
गगन का सूर्य चलित होता क्या ?
अचल शृंग हिल उठते !
महा कूर्म करवट ले रहा।
या शेषनाग असमय ही कुलबुलाया है क्या
महा प्रलय-वात वहते धूम्रतमस का वमन करते हुए !
पुनः क्षितिजरेखा प्रकाशित होती
कैसी अग्निच्छटा !
प्रचंड विलसित होता सतत वह्नि धक्-धक् ।
तड़ितप्रभा स्फुरित होती उड़ती कपिलरक्त ज्वालाजटा,
दिगंत तक अद्रि अग्निरस छलकाये जाता ।

बीता समय,
अग्निरस वह हुआ शान्त और गया जम ।
क्रमशः गगन मेघधारा के अभिषेक से भींग
हुआ वह मृदुल मृत्-स्वरूप;
सहसा फूट पड़ा लघु सौम्य अंकुर;
कली फूटी और खिली,
प्रफुल्लदल पुष्प हँसा,
हँस उठा ज्वालामुखी भी :
थी मात्र यही आशा, हुई पूर्ण ओह !
बस हूँ सुखी ।

[१४-१०-१९४७]

## रडो न मुज मृत्युने !—

[ज्हावानुं कहेवुं सहुने—नथी स्हेलुं कांई.]
—जान्युआरी ३०, १९४८]

"रडो न मुज मृत्युने ! हरख माय आ छातीमां
न रे !—क्यम तमेय तो हरखतां न हैया महीं ?
वींधायुं उर तेथी केवळ शुं रक्तधारा छूटी,
अने नहि शुं प्रेमधार उछळी अरे के रडो ?
हतुं शुं बलिदान आ मुज पवित्र पूरुं न के ?
अधूरप दोठी शु कै मुज अक्षम्य तेथी रडो ?

तमे शुं हरखात जो भय धरी भजी भीरुता
अवाक असहाय हुं हृदयमां रूधी सत्यने
श्वस्यां करत भूतले ? मरणथी छूट्यो सत्येन
गळे विषम जे हतो कंईक काळ डूमो ! थयु
सुणो प्रगट सत्य : वैर प्रति प्रेम, प्रग ने प्रेम ज !
हसे ईशु, हसे जुओ सुक्रतु, सौम्य सतो हसे."

"अमे न रडीए, पिता, मरण आपनु पावन,
कलंकमय दैन्यनु निज रही रह्या जीवन."

[१-२-१९४८]

## रोओ न मेरी मृत्यु पर

[चाहने को कहना सबसे नहीं है आसान
—जनवरी ३०, १९४८]

"रोओ न मेरी मृत्यु पर।
हृदय में मेरे समाता नहीं हर्ष—
तुम भी क्यों हृदय में हर्षित नहीं होते ?
बिंध गया उर
इससे क्या केवल रक्तधारा ही फूटी ?
प्रेमधारा क्या न उछलती कि
अरे ओ रोते हो ?
था नहीं क्या बलिदान मेरा यह पवित्र पर्याप्त ?
अपूर्णता देख क्या कोई मेरी अक्षम्य,
तुम रो रहे हो ?

क्या तुम्हें हर्ष होता
यदि मैं भय लिये भीरुता पालता, अवाक्, असहाय
हृदय में सत्य का दम घोंट कर
धरती पर साँस लेता रहता ?
सत्य के गल से छुट गई
मृत्यु की विषम घुटन
जो थी कुछ समय की !
सुनो, प्रगट हुआ सत्य :
वैर के प्रति प्रेम, प्रेम और प्रेम ही !
हँसते हैं ईसा, हँसते हैं सुकरात, सौम्य संत हँसते हैं।"

"हम नहीं रोते, पिता !
आपकी पावन मृत्यु पर,
रोते हैं हम तो
अपने कलंकमय दैन्यभरे जीवन पर।"

[१-२-१९४८]

## सुदर्शन

कृष्ण :

"सुदर्शन ! धर्यु तने कर विषे, करी वेगळी
कुमार-वयनी रसोत्सव रमाडती वांसळी.
कदम्वतरुलोल रम्य यमुना तणो ते तट;
झमे शरदपूर्णिमा अमृत, एह बंसीवट.
कह्यं हतुं ज वेणुए : 'अधरथी हवे वेगळी
मने शुं करशो,—वहे हृदय ज्यां तमारुं गळी,
अने विरमतु ज अन्य जननांय वींधी उर ?
सुदर्शन रमाडशो कर विषे हवे निष्ठुर ?
गमे शुं वध शीर्षनो, हृदय वींधवाथी वधु ?'
लीधो विजयपंथ; शस्त्र धरी, रूंधी हैयामधु.
ऊभो हुं कुरुक्षेत्रमां, ऊभी अढार अक्षौहिणी;
अने न उपयोग कोई नव आज ! शी निर्मिति !"

सुदर्शन :

"रह्युं कर विषे कृतान्त सम शस्त्र, तोये क्यहां
करो न उपयोग कैं, न उपयोग ए शुं महा !"

[२७-४-१९५१]

## सुदर्शन

कृष्ण · "सुदर्शन !

धारण किया तुझे कर में,

दूर कर कुमारवय की रसोत्सव की बाँसुरी।

कदम्बतरु लोल रम्य यमुना का वह तट,

वर्षा करती शरदपूर्णिमा अमृत,

वह बंसीवट।

कहा ही था वेणु ने ·

'अधर से अब दूर मुझे करोगे क्या ?

हृदय बहता है जहाँ गल कर तुम्हारा,

और रुकता अन्य जनों के हृदय को भी बींध कर।

सुदर्शन को खेलाओगे अब कर में निष्ठुर ?

पसद है क्या वध शीर्ष का

हृदय-बिंधन से भी अधिक ?'

अपनाया विजयपथ

शस्त्र लेकर,

रोक कर हृदय-मधु।

खड़ा मै कुरुक्षेत्र मे

खडा अठारह अक्षौहिणियाँ;

न उपयोग कुछ तेरा आज !

वाह निर्मिति !"

सुदर्शन : "रहा कर में कृतान्त-सा शस्त्र,

तब भी कहीं पर

करते नही उपयोग,

यही क्या नहीं महान उपयोग ?"

[२७-४-१९५१]

## ગુરુશિખર

गुरुशिखरनी टोचे ऊभो, श्वसुं नरवो हवा,
क्षितिज-तटनी पारे स्वप्नप्रदेश तरे नवा.
विमल नभने स्पर्शे मारुं ललाट समुत्सुक,
अतळ जगनां ऊंडाणोनुं शमे क्षण कौतुक.
जगकलहथी ऊंचेऊंचे अनर्गल भर्गमां
गिरिशिखर आ भूमास्पर्शे वसे जिरस्वर्गमां.
दिशदिश तणा झंझावातो अहोनिश झूझता,
खडक दृढ आ ऊभो; मारा पगो अह ! ध्रूजता.—

"पग तुज भले ध्रूजे, मारा बृहत वरडा महीं
तडित सम जो ध्रूजारी ते पसार थई गई.
तुजनी अही जे ऊंचाई ते खरो मुज उच्चता,
चढी तुज खभे तारो आँखं लहुं सहु हुं मता.
स्वरग अहींथी तारे मारे परुं कहुं केटलु ?
मृदुल कर तु लंबावी रहे अहीं थकी एटलं."

[१२-६-१९५१]

## गुरुशिखर

गुरुशिखर की चोटी पर खड़ा
सांस में भरता हूँ स्वच्छ हवा,
क्षितिजतट के उस पार
तैर रहे हैं नये स्वप्नप्रदेश।
मेरा समुत्सुक ललाट
विमल नभ का स्पर्श कर रहा है,
अथाह जग की गहराइयों का कौतुक
क्षणभर शान्त होता है।
जग-कलह से बहुत ऊँचे अनर्गल भर्ग में
भूमा के स्पर्श से यह गिरिशिखर
बस रहा चिर स्वर्ग में।
विविध दिशाओं के झञ्झावात अहोनिश जूझते,
चट्टान यह दृढ, काँपते किन्तु मेरे पाँव।—

'भले ही तेरे पाँव काँपते हों,
मेरी बृहत् पीठ में
देख, तडित के समान कंपन दौड़ गई।
तेरी यहाँ है जो ऊँचाई
वही मेरी सच्ची उच्चता है,
तेरे कंधे पर चढ़ कर
तेरी आँखो से देखता हूँ सारी सम्पदा।
स्वर्ग यहाँ से—तुझसे मुझसे—
कितना दूर है कहूँ ?
मृदुल कर अपना
बढ़ा दे यहाँ से तू—
बस इतना।'

[१२-६-१९५१]

## सप्तपर्णी

बपोर पछीनो नमेल तडको ढळ्यो, सौम्य शी
प्रलंब पथराई खीणभरी अद्रिछाया ! हसी
दिगन्त लगी भूमिअचल रहस्य हर्युं ने भर्युं.
हवा महीय ऊभरे अमृत स्वास्थ्यनुं को नर्युं !
विकल्प मम ना तरे विहग कोई, डूब्यो रूडो
समाधि महीं शांत स्व-स्थ अवकाश ऊंडोउंडो.

शिला वितत आ पडी, अहीं ज सप्तपर्णी गुहा
महीं चरण सौम्य बुद्ध जिनवीर केरा सुह्या.
अहीं ज दिनरात केंक, मनु-भाग्यने चिंतवी
रह्या सुभग ए हशे, वळी अनेक के,—सौ छवि
तरे हृदयमां, समाधि पळएक लाधी रहे.
शिवोर्मि तणी, ऊठवुं नव गमे. गुफा त्यां कहे :
"पियेर नहि, दीकरी तणुं मुकाम छे सासरे.
गुहा नहि, परंतु लोक तुजनी परीक्षा खरे"

[२३-६-१९५१]

## सप्तपर्णी

दोपहर के बाद की झुकी धूप ढलने लगी,
सौम्य-सी घाटी को भर कर
प्रलंब अद्रिछाया फैल गई !
दिगंत तक हँस रहा
हरा-भरा भूमिअंचल ;
हवा में भी उभरता
स्वास्थ्य का निरा स्वच्छ अमृत ।
तैरता नहीं विकल्प-सा भी कोई विहग,
गहन समाधि में डूबा
शांत, स्वस्थ सुन्दर आकाश
यहाँ पर यह विस्तीर्ण शिला,
यहीं सप्तपर्णी गुहा में
चरण सौम्य बुद्ध जिनवीर के सहारे थे ।
यहीं पर कितने ही दिनरात,
कर रहे होंगे वे सुभग चिंतन
मानव भाग्य का
और अनेक अन्य—
सभी छवियाँ हृदय में तैरतीं हैं ।
समाधि क्षण-एक लग जाए,
शिवोर्मि की;
इच्छा नहीं होती उठने की !
वहाँ गुहा कहती है :
"मायका नहीं, ससुराल ही है मुकाम बेटी का ।
गुहा नहीं,
लोक ही है तेरी सही परीक्षा ।"

[२३-९-१९५१]

## हंपीना खंडेरोमां

ऊगी पोंषी पूनम तरुनां झुड पूठेथी धीरे,
ए आलोके शिशिर सहसा चोंकी ऊठ्या शी जागी.
वायो धीमे रही सूसवतो भ्रान्त जेवो समीरे,
घूमी र्‌हतो अहीथीं तहीं ते सूनकारे अभागी.

पेलुं पंपा सरवर अने अद्रि या माल्यवान;
धारे फीकी सरल सुषमा तुंगभद्रा-तटो आ,
चोपासे शा टुकटुक बन्या जीर्ण साम्राज्यप्राण;
वच्चे, मार्गे अटकी खटकी, मंद टप्पो जतो आ.

वृक्षा टोचे विधु झबकतो; श्री हसी त्यां वनोनी.
आ खंडेरो विजित जनना म्हेल ने मंदिरोनां,
आ तूटेली वितत कबरो ते विजेता जनोनी.
ढोळी बन्ने उपर रस पूर्णेन्दु सौन्दर्य केरो।
आकाशेथी मृदुल मलके. जोईने काळ-फेरो
टप्पो वेगे पुर प्रति धपे ते सूनां खेतरोमां.

[१९४८]

## हंपी के खण्डहर

उगी पूस की पूनो
तरुझुंड की ओट से धीरे,
उस आलोक में
शिशिर सहसा जग पड़ी चौंकी-सी।
समीर भी भ्रान्त-सा धीरे धीरे
सन् सन् कर बहने लगा.
यहाँ से वहाँ सूने में वह अभागा घूमता ही रहता।

और यह है पंपा सरोवर
यह माल्यवान अद्रि
धारण करते सरल फीकी सुषमा तुंगभद्रा के ये तट,
चारों ओर कैसे क्षत-विक्षत बने हैं
जीर्ण साम्राज्य के प्राण;
इनके मध्य,
मार्ग में अटक-अटक कर जा रहा यह इक्का।

वृक्षों की चोटी पर चमकता है विधु,
हँस पड़ी वहाँ वनश्री !
ये खण्डहर हैं
विजित जनों के महलों और मन्दिरों के,
और ये टूटी हुई वितत क़बरें हैं विजेता जनों की।
उँडेल दोनों पर सौन्दर्य का रस,
अम्बर में मृदु स्मित करता है पूर्ण चन्द्र।
देख कर काल की गति
इक्का दौड़ता शहर की ओर 'तेज़ी से
उन सूने खेतों में।

[१९४८]

## घरे आवुं छुं हुं—

घरे आवुं छुं हुं, नव कदी रह्यो दूर घरथी.
धसे हैयुं ते ता बळद घरडाळा ज्यम धसे.
घरे बेठां चाही नहि ज जननीभूमि गरवी,
बसी दूरे जेवी. कदीक नभवाणीथी घरनुं
स्रव्युं जो संगीत, श्रवण चमक्या, तृप्ति हृदगे
लही गाढी; घेरी रजनि महीं क्यारेक सपनां
तणा ताणावाणा महीं जतो वणाई ज रटणा
विलाती मातानी खटकभर......! रे दर्द-कथना.

घरे लावुं छु शुं ? हृदय, नव ए प्रश्न कर तुं.
न उग्रागे बुद्धि, वणज समजुं ना जरीय ते.
नथी खाली हैये पण हुं फरतो छेक ज, नवी
कंई आशाओ ने स्मितरुदनना मर्म नवला
घरे लावुं छुं हुं.—खरुं ज कहु ? आवुं कविजन
हतो तेनो ते हा ! पण कंईक शाणो विरहथी.

एम. एम. चुसान

[१३-१२-१९५२]

## घर आता हूं मै

घर आता हूं मै,
कभी नही रहा दूर घर से।
दिल तेजी से बढता
जैसे बैल लपकते है घर की ओर।
घर मे रह कर नही चाहा कभी
गरिमामयी मातृभूमि को,
जैसा चाहा दूर रह कर।
कभी आकाशवाणी से यदि सुना घर का सगीत
कान चौंके,
हृदय ने गहरी तृप्ति पाई।
गभीर रात्रि मे कभी सपनो के ताने-बाने मे
गूथ जाती मुरझा रही मा की खटकने वाली रट,
रे कथा दर्द की!

घर लाता हूँ क्या ?
हृदय,
यह प्रश्न मत कर तू।
नही उद्योग मे मति,
वाणिज्य तो कुछ भी नही समझता,
फिर भी बिलकुल खाली हृदय से नही लौट रहा मै,
नई आशाएँ और स्मित-रुदन के नये मर्म
ला रहा हूँ मै घर।
सच ही कह दूँ ?
आता हूँ कविजन वही का वही
किन्तु कुछ सयाना होकर विरह मे।

एम एम चुमान
[१३-१२-१९५२]

## पुनर्लग्न

"मने ज ना बोलावी ने लग्नमां तमारा बापु ?
वाये केवी, मने ज ना याद करी ? गाम आख
नोतर्यु हश ज होम होमे काटी ककोतरी,
एक शुं तमोने वस मारे ज माटे ना मळी !
एवा छो लुच्चा बनेय, अमने शु मन नही
होय लग्न जोवानु के ? जोई रहेत मगी रही.
तमने हशे के वच्चे तोफान करीने हु त्या
खलेल करत, करी आखोदा'डो कूदकूदा
पण जाणो छा क्या तम अमे नथी एवा काई !
ऊलटु वाने हु केवी शणगारी देत, भाई-
भा'बनेय बाघा जेवा रहेवा नही देत ! नथी,
कहो जो, साचे ज बाघा ?"
"छ ज " कही ने दिनथी
माबापोना जगनमा काव कर छ मतन
जनी माथे पुनर्लग्न करवानी हिमायत.

[१८-१०-१९४६]

## पुनर्लग्न

"मुझे ही सिर्फ नहीं बुलाया न, तुम्हारी शादी में बापू ?
माँ भी कैसी ?
मुझे ही याद नहीं किया ?
गाँव सारा निमंत्रित किया होगा
उमंग से लिख कर लग्नपत्रिका,
एक सिर्फ मेरे ही लिए आपको नहीं मिली ?
कैसे हैं चट दोनों ही,
हमारा मन नहीं होता क्या शादी देखने का ?
देखती रहती मैं तो चुप रह कर।
तुमने सोचा होगा
मैं बीच में शरारत कर वहाँ [illegible] तंग करूँगी,
दिनभर उछल कूद कर।
पर तुम कहाँ जानते हो—
हम कोई ऐसे नहीं हैं!
पर मैं तो कैसा मजा देती माँ को,
भाई साहब को भी बुद्धू-से नहीं रहने देती!
नहीं तो—बताओ तो सचमुच में बुद्धू ?"
"हूँ हो"—कह कर उसी दिन से
माँ-बापों के जगत में
कवि करता है निरंतर
पत्नी के साथ पुनर्लग्न करने की हिमायत।

[१८-१०-१९४९]

## भट्ट बाण

ज्ञास्यसि मरणेन प्रीतिमिन्यसभाव्यमेव ।

[—कादबरीए प्रियतमने मोकलेला सदेशाना अतिम शब्दो उपर बाणनी कृति अटकी जाय छे ]

१

'जाणशो मृत्युथी प्रीति !—ए नो किन्तु असभव !'
थभी कादबरी त्या न विरहे थई नीरव
चंद्रापीडपदे स्होंची निवेदन करे सखी
आत्मरूपा पत्रलेखा विश्रमे जेवी ओलखी
दवी कादबरीने, त्या पछे पोते रही हती,
कुमारविरहे तेनी दशा एणे लही हती—
प्रीतिउद्रेकनी पीडा केमे नव सहो जता
असहायपण गात्रो वियोगाग्निथी सीजता,
बोलावी पत्रलेखाने बेसाडी पडखे जरी,
प्रिया प्रीतमर्नी तेने पोते प्रियतरा करी,
ने वाछय खालवा हैयाभाव गूढ महाबल
कप अगो, स्फुरे ओष्ठ—ने शमे भयविह्वल
सुणे स्फटिकअकाई छाया पोतानी ते रखे,
कुमारी भमती एन चरणागुष्ठने नखे
हसो सुणी जशे जाणी झकृतिथी नसाडती
अने गृहमयूरोने ताबूलथी उडाडती
स्फुरत अधरे झकी जवा मधुकरो करे,
सतप्त छातीने छेडे करे ते दूर सत्वरे

## भट्ट बाण

ज्ञास्यसि मरणेन प्रीतिमित्यसंभाव्यमेव इति ।

[—प्रियतम के नाम कादंबरी के संदेश के अंतिम शब्द,
जहाँ बाण की कृति अटक जाती है ।]

१

जानोगे मृत्यु से प्रीति !'—यह तो किन्तु असंभव !
रुक गई कादंबरी यहाँ, और हो गई विरह में नीरव ।'

रख कर चन्द्रापीड के चरण में
आत्मरूपा सखी पत्रलेखा निवेदित करती
जिस रूप में विभ्रम से पहचाना था उसने
देवी कादंबरी को.
रही थी वह पीछे, थी अवगत
कुमार विरह की दशा में ।—
सह न पाने से किसी तरह
प्रीतिउद्रेक की पीड़ा,
रोगाग्नि में सिकते थे गात्र असहाय.
बैठाया पत्रलेखा को बुला कर निकट,
पूछा कि स्नेहभागा को करके विजनतर
कहती गई हृदयभाव को खोलना बड़े यत्न से ।
काँप उठते अंग, स्फुरित होते ही
शान्त हो जाते ओंठ, भयविह्वल ।
सुन तो नहीं जाएगी स्फटिक-बिम्बित निज छाया ?
पोंछ देती है उसे कुमारी चरणांगुष्ठ के नख से ।
सुन जाएँगे हम ? भगा देती उन्हें भ्रुकुटि से,
उड़ा देती गृहमयूरों को ताबूल से,
अधर पर झुकते गूँजते भ्रमरों को
कर देती सत्वर दूर, सनाल छाती के छोर से ।

बोलवा करती त्या ज ऊँचे कान थई जनो
प्रियना भणकाराथी, आमतम विलाकनो.
नहि सह्य जना हैये, अते नहि रह्य जता,
सोप्या न पत्रलेखाने सदेशवचनो हता .
"जाण नारी प्रति मारी क त याग्य न आचरू.
सर्रा आवव नो छट रह्य , मदेशथी डरू.
अने हु श ग मदेश ? 'अतिप्रिय त छ मने''
—पुनरुक्ति अरे ए ता 'अने हु प्रिय छु तने ?'
—प्रश्न ए जडतानो हा. जुठ 'ना जीवु तु विना
'मनाज हु तन अर्पी' —ए उपाय भेटवा
'तने बळ हर्या छ म'— धृष्टता न छकेलानो,
'घटे पधारवु निश्च एमा वाणा साभाग्यगर्वनी.
'स्वय आवीश हु ' एमा स्त्रीचापल, उचारता
'अनन्यासक्त छु', आत्मभक्तिकथन न छाा
धृत्कारी कादशा प्रम शका ना पहोचाडवा
सदेशो'—त अरे जाण ऊर्वेलाने जगाडवा
'अनुजीवी जनोना ना दु खने गणु हु रज
एवी दारुण थ जाउ'— अतिप्रणयिता ज ए
'मर्य हु, जाणशो प्रीति' -किनु ए तो असभव
—थभा कादबरीवाणी या ये विरहनीरव

तोलना चाहती उसी पल हो जाती श्रवणातुर
हो ज्यों प्रिय की आहट, देख लेती इधर उधर ;
सह न पाने से हृदय में,
रह न पाने से अंत में
सौंप दिये पत्रलेखा को सदेशवचन :
"जानती हूँ तेरी महत् प्रीति को,
नहीं कर पाती कुछ भी इसके योग्य ;
सरक आना पास तो रहा दूर,
डरती हूँ सदेश से भी।
ओर क्या क्या कहूँ सदेश मे ?
'अतिप्रिय है तू मुझे ?'—होगा यह तो पुनरुक्ति ।
'प्रिय हूँ मै तुझे ?'—जड़ता का प्रश्न यह ।
ओर 'नही जी पाती तेरे बिना' नहीं है सच ;
'मनोज-अर्पित मै तुम्हे'—यह तो भटने का उपाय ।
'छिन लिया मैंने तुझे बल से'
—धृष्टता यह छबीले की ।
'आना ही होगा अवश्य'—वाणी सौभाग्यगर्व की ;
'आऊँगी मै स्वय'—स्त्रीचापल्य यह तो ।
'अनन्यासक्त हूँ' कहने मे प्राकट्य
तुच्छ आत्मभक्ति का ।
'दुतकार दोगे प्रेम, शंका न भेजूँ सदेश
—यह तो मानो सोते हुए को जगाना ।
'अनुजीवी जनों के दुःख की उपेक्षा कर बैठूँ
ऐसी हो जाऊँगी दारुण'
—होगी अतिप्रणयिता यह तो ।
'मृत्यु पर मेरी, जानोगे प्रीति'—किन्तु यह तो असभव ।'
रुक गई यहाँ कादंबरी और हो गई विरहनीरव ।

जीवी कादंबरी तो त माणवा मिलनोत्सव,
किंतु शे कवि ए शब्दे चाल्या संकेलीने भव ?
कथा ए—ए ज हा—वाक्ये अधूरी मूकी नीकळ्या.
(आदरी करवा पूरी पुत्रने सोंपी ऊपड्या.)
कथानी नायिकाने जे असभाव्य गण्यु हतु,
कविने काज ते मृत्यु छेक संभाव्य हा बन्युं !
वाग्धारा थंभी ए शब्दे, प्रकाशी वसुधांगण
प्रीति ने मृत्युनु हैये घूटायेलु रसायन !
प्रीति ने मृत्युना गाढ स्पर्शे चित्त द्रव्यु हशे !
गा शा अनुभवे अते अही आर्वा ठर्यु हशे ?

२

प्रीतिकूटे हतो वाम, वात्स्यायन सुवंशना
आदि विप्र वत्स अर्थे रचेल्नो जे तपोमना
मुनि सरस्वतीपुत्रे. पितराई करे गृह
मूकी, विद्या दई, पोते वळ्यो वने मुनिस्पृह.

पुरा ब्रह्मसभा मध्ये, कहे छे के, हती मळी
बीटी विरंचीने मोटी एकदा मुनिमंडळी.
सामनिर्घोष वेळाए आशरोष ऋषिवरे
दुर्वासाए रुषावेषे ऋचा आलापी विस्वरे
सुणीने स्तब्ध सौ ऊभ शापभीत ऋषिदल,
चित्रांकित सम शान्त जटाजूटन मडल.

जी गई कादंबरी तो मनाने को मिलनोत्सव,
किन्तु कवि तुम क्योंकर चल पडे
इन शब्दों पर समेट कर जीवन ?
कथा वह इसी वाक्य पर छोड कर अधूरी, चल पड़े।
(आगे बढ़ा कर समाप्त करने के लिए
सौंप कर पुत्र को, चल पडे)
माना था असभव जिसे कथा की नायिका ने
वही मृत्यु हो चुकी सभाव्य कवि के लिए।
प्रकाशित करके वसुधा के आगन मे
— हृदय मे निष्पन्न
प्रीति और मृत्यु का रसायन,
थम गई इस शब्द पर वाणी !
द्रवित हुआ होगा चित्त
प्रीति और मृत्यु के निबिड स्पर्श मे।
कैसे कैसे अनुभवो के बाद वह
आकर यहाँ हुआ होगा स्थिर ?

२

प्रीतिकूट मे था निवास,
वात्स्यायन सुवश के आदि विप्र वत्स के लिए
रचना की थी जिसकी तपोमना मुनि सरस्वतीपुत्र ने।
चचेरे भाई के हाथों सौंप कर घर, देकर विद्या
स्वय वन को निकल पडा था निस्पृह।

कहते है कि पुराकाल मे ब्रह्मसभा में
विरचि को घेरकर एकदा मिली थी मुनिमडली।
सामनिर्घोष के अवसर पर वहाँ आशुरोष ऋषिवर दुर्वासा ने
क्रोधावेश में ऋचा को उच्चरित किया विस्वर।
सुनकर स्तभित रह गया सारा ऋषिदल शाप-भीत,
चित्राकित मानो शान्त जटाजूट का मडल।

बेठो ब्रह्मा कने साममसमाधिमा सरस्वता,
काननी टीशीओ विद्यामदे टपकतो द्रुता
कुमारी चमकी ऊठी —चरणमगथी, उन्मना
हसी पटी समुल्लासे नित्यनूतनयौवना.
आछा भ्रूभगथी एना प्रकृत्य ब्रह्मकेतन,
दतज्योत्स्नानी आभार्थी मचर्युं नवचेतन
दुर्वासा चट हुकारे त्या तो जन्म जटे करे :
'पापिणी ! आ ! मृत्युलोके पटो तू !'—शाप उच्चरे.
पुत्र देखा सुधीर्ना त्या ब्रह्माए अवधि रची,
कमारी ऊनरी भामे, भागने ऊर्मि तालची.
प्रलव बाहु लबाव्या गगाने अक स्थापवा
चिन्त्याम्चिवाए हाय जाण एना गाण वहे महा.
नेना मयूरगर्जना नटनी निकट करी
पर्णकुटि, वसी काइ कमारी व्रत आदरी.
एकदा दिन ऊग्यामा झूकया अस्वार क्यायथी,
अरे का एनी आवथो आ आखा नमनो नथी ?
दीधो देहात्म होमे ए स्नेहोदधि दधीचने,
यथाकाले गर्भ व्हेना पामी प्रीतिअपत्यने,
स्वर्गे सरस्वती वेगे सचरी शिशु ऊछर्या
पित्राई वत्सनी साथे. (पिता नो तपमा ठर्यो.)
करी सक्रान्त सकेतो विद्याना सर्व वत्समा,
प्रीतिकूटे स्थापी, चाल्यो सारस्वत अरण्यमा.

बैठी थी ब्रह्मा के पास सामसमाधि में सरस्वती,
कान की लौ विद्यामद से टपकती थी उसकी।
चौंक उठी वह कुमारी स्वरभग से.
उन्मना हँस पडा समुल्लास से वह नित्यनूतन-यौवना।
उसके हलके भ्रूभंग से काँप उठा ब्रह्मवदन,
दंतज्योत्स्ना की आभा से मर्चरित हुआ नवचंदन।
चंड हुँकार कर, जल लेकर हाथ में
शाप उच्चारित किया दुर्वासा ने-
'जा पापिणी! पड़ो तुम मृत्युलोक में।'
पुत्रदर्शन तक की शापावधि ब्रह्मा ने रची,
कुमारी पृथ्वी पर आयी उतर
भारत में रमा उसका मन।
बह रहा था शोणनद
विन्ध्याद्रि ने मानो गंगा को स्थापित करने को अपनी
बाह फैलायी हो।
उसके मयूर की केकाध्वनि से मुखर तट पर
बनायी पर्णकुटि,
व्रत लेकर बस गई वह कुमारी आशा से।
एकदा दिन उगते ही आ पहुँचा कहीं से कोई अस्वार,
अरे, क्यों उसकी आखों मे आख हटती नहीं?
उस स्नेहोदधि दधीचि को देहात्म का समर्पण किया प्रेम से,
यथाकाल धारण कर गर्भ अपत्य पाया,
गई सरस्वती पुन स्वर्ग मे।
शिशु बड़ा हुआ चचेरे वत्स के साथ।
(पिता तो थे तप मे लीन)
विद्या के सारे सकेत वत्स मे सक्रान्त कर,
प्रीतिकूट में स्थापित कर,
वह सारस्वत चला गया अरण्य मे।

प्रीतिकूटे पूर्वजोथी मारस्वत प्रमाद ना
विद्यासातत्यधाराथी भरपूर भर्या हतो.
लाध्यो ते सहजे मर्व कविने शैशव महा
किंतु त्यां लाध्य मृत्युना बीजन् पडवय हा !
वैशपायन ते नाना कथाना शिशु शुकशो
बन्यो कवि मातृहीन, रह्यो आधार ना कशो.
स्नेहप्लावित हैयेथी पिता मातृना करं,
चोद वर्ष थया मात त्या तो लीधा यमे हरी
न ग्रष्ट रहवाया घा, काळे करी वळी कळ.
मानो थै डोलवा लाग्यो योवने मुविशृ म्मल.
लक्ष्मीनोये सुखे वासो सरम्वर्ता सहे हतो
मित्रो परिजनो भाव तणो तोटाय ना हतो
भाषाकवि हतो मित्र ईशान. स्नहीजाडली
रुद्र--नारायण, प्रोढ पंडितोय रहा मळी
वारवाण-वासवाण, वेणीभारत वर्णना
कवि काम-सूचीवाण स्तुतिपार्टी हता जनो;
कथाकार जयसेन. चड ताबूलदायक,
मन्दारक हतो तेथ सुदृष्टि ग्रथवाचक
वीरवर्मा चित्रकर्ता गोविन्दक सुतेजक
मयूरक गारुडी, न कराल मत्रसाधक
मृदग काज जीमत, माध्वी त्या चक्रवाकिका,
मवाहिका केरलिका ने मैरन्ध्री कुरंगिका
वगाडे वामळी त्या वे पारावत-मधुकर,
नर्तकी हरिणिका ने गाधर्वाचार्य दर्दुर.
ताडविक नचावे त्या स्वय नाचे शिखडक,

प्रीतिकूट में सारस्वत-प्रसाद तो भरापूरा था
विद्यामानत्यधारा से पूर्वजों की।
मिला वह प्रसाद कवि को अपने शैशवकाल में ही,
साथ में मिला
मृत्यु के वज्र का गिरना भी!
कथा के उस शुकशिशु वैशपायन-सा
बना कवि मातृहीन, निराधार।
स्नेहप्लावित उसके पिता ने मातृता की,
और ज्यों ही कवि हुआ चौदह वर्ष का,
पिता को भी हर लिया यम ने।
वे घाव भरे नहीं तुरन्त में,
समय के बीतने पर ही हुई शान्ति।
मत्त होकर डोलने लगा विशृंखल यौवन में,
सरस्वतों के साथ सुखपूर्ण निवास था लक्ष्मी का भी,
मित्र, परिजन और बंधुओं की भी नहीं थी कमी।
मित्र था भाषाकवि ईशान स्नेहानुगम रुद्र नारायण,
प्रौढ़ पंडित वारवाण वासवाण थे मित्र,
वर्ण का कवि वेणीभारत
काम-सूचिवाण स्तुतिपाठी भी थे।
थे कथाकार जयसेन, ताम्बूलवाहक चंड,
वैद्य मंदारक, ग्रंथवाचक सुदृष्टि,
वीरकर्मा चित्रकर्ता, गोविन्दक लेखक,
मयूरक गारुड़ी और कराल मंत्रसाधक।
था मृदंगवादक जीमूत, थी साध्वी चक्रवाकिका,
संवाहिका केरलिका, और सैरन्ध्री कुरंगिका।
पारावत और मधुकर बंसी बजाते थे।
नर्तकी थी हरिणिका, गांधर्वाचार्य थे दर्दुर।
नृत्य-गुरु तांडविक थे, और नर्तक शिखंडक,

सोमिल ने ग्रहादित्य गायको, धूत भीमक --
वसे ऐश्वर्यमां आवा तोये मन ठर्युं नहीं,
देशावर जवा, जोवा जग, झंखा उरे रही.
कुतूहल न ए छाती मही अते शम्यु जता,
सुखो सगवडो सर्वे ठोकरे दई, दाझता
मायाळु स्नेही हैयानो ठपको लई आशिषे,
मोटाना उपहासोन् बाधी माथ, दिशोदिशे
निबंध भमवा चाल्यो, जाणे शु वळगाड ना
वळग्या होय क एवो, गोदरे गामगामना.
भम्यो राजकुले केंक, सेव्या गुरुकुलो कई,
नीरखन विदग्धोना मंडळे घूमतो रही,
गुणागार गोष्ठीथी गोष्ठीमा सरतो हतो,
ब्राह्मणो एकथी बीजा धरमा सरवये जतो.
[illegible]या विनय नैपुण्ये करीने अवगाहन,
[illegible] लोकावेक्षण दत्त आवी ऊभो गहागण.

ऋषिने बीटतो दिव्य जाग्या अध्ययनध्वनि,
वागा सारस्वतस्तोत्रो नणी मजु रही रणी
भाले भस्मत्रिपुंडो ने शिखा कपिल धारता,
ब्रह्महोना कने, शिष्या यज्ञवह्नि समा हता
बालिकाओ द्वार पासे नीवारस्रलि अर्पती.
पुष्पित द्रुमथी दूर्वाभूमि दृग तृतर्पती.
वागे वागोळती धीरे हामधेनुनी घट[illegible]
नवा जन्मेल वत्सोनी मृदु रटनी शीगटो.

गायक थे सोमिल और ग्रहादित्य
धूर्त भीमक था—
ऐसे ऐश्वर्य में रहने पर भी हुआ नहीं मन स्थिर;
देशान्तर भटकने की, विश्व देखने की
थी हृदय में कामना।
उस वक्ष में कौतूहल न हुआ शान्त,
सुख-सुविधाओं को ठुकरा कर
दुःखी ममत्वशील स्नेही जनों का आशिष में उपालम्भ ले
बड़े लोगों के उपहासों का पाथेय बांध,
दिशा दिशा में निर्बंध भटकता चल पड़ा
गाँव गाँव में-
मानो सिर पर भूत सवार हो।
भटका अनेक राजकुलों में,
रहा अनेक गुरुकुलों में भी,
बुद्धिधन विदग्धों के मण्डल में घूमता रह कर
गुणगंभीर गोष्ठी में गोष्ठी में जाता रहा,
ग्राह की तरह एक से दूसरे ह्रद में सरकता रहा।
विद्या-विनय-नैपुण्य में अवगाहन कर
लोकावेक्षण में दक्ष होकर
आकर खड़ा रह गया गृहांगन में।

श्रोत्र को आवृत करती अध्ययन की दिव्य ध्वनि जगी,
बज रही सारस्वत स्नातों का मंजुल वीणा।
भाल पर भस्मत्रिपुण्ड्र और कपिल शिखा को धारण करते
अजर्वह्नि-से शिष्य थे ब्रह्महोता के पास।
बालिकाएँ द्वार के पास नीवारबलि देती थीं,
पुष्पित द्रुमों से दूर्वाभूमि नेत्रों को शीतल करती थी,
जुगाली करती हेमधेनु की घटा बज उठती और,
नवजात वत्सों के फूटते छोटे सींग सुहाने,

आमतेम रहे घूमी कूदतां अजशावको;
विश्रान्ति ले उपाध्याय, आरंभे पाठ ज्यां शुको.
वृक्षो पर हविर्धूम प्रज्ञाध्वज सुशोभन,
प्रीतिकूटे कविवास साक्षात् त्रयीतपोवन.

एक वर्षे दिशाव्यापी संफुल्ल मल्लिका समुं
अट्टहास्य स्फुर्युं ग्रीष्म—महाकालनुं कारमु.
ललाट ललनाओनां शीतस्पर्श चंदन
ने सरिद्वारि शोषता वह्या उग्र समीरण.
वन्य त्रस्त कपोतोनी चीसे बधिर विश्व हा !
धरानां उरथी जाण सर्या निःश्वास हो महा.
एवा वंटोळिया जाग्या, गांडातूर बनी घूमे,
नदी चमरीए ऊंचे गिरिशृंगो पर झूमे.
खांसी मोरपांछा खेले कराळा रासमडली,
फूटे वांस मूका तनी वागे खोखरी वांसळी.
अने आ हाय ओछ्श एम अग्निय ते स्फुर्या,
डगरे डुंगरे घोर दावानल जली ऊठ्या.
वजे वंटोळडमरु, पदेपद ऊठे दव.
जाणे माड्युं महारुद्र शिवे प्रलयतांडव.

बपोरे जमवा बेठा हता त्या दूत आवियो
थपाटो ग्रीष्मनी खातो; कोळियो हाथ रही गयो
अने बोलावीने पासे कविए हृदयामृते
अर्पी शीतलताअर्घ्य पूछी वात गते गते.

इधर उधर घूमते चौकड़ी भरते अजशावक;
शुकों का अध्यापन-कार्य आरम्भ होने पर
विश्राम लेते उपाध्याय।
वृक्षों पर हविर्धूम प्रज्ञाध्वज था सुशोभित,
साक्षात् त्रयी तपोवन-सा था
प्रीतिकूट में कवि का वास।

एक वर्ष दिशाओं को करता व्याप्त
संफुल्ल मल्लिका-सा
ग्रीष्म महाकाल का कराल अट्टहास हुआ स्फुरित।
ललनाओं के ललाट पर शीतलस्पर्श चंदन को और
सरिता के जल को शोषित करता बहने लगा उग्र समीरण,
त्रस्त कपोतों की चीखों से बना विश्व बधिर!
वायु के बवंडर जग उठे और उन्मत्त हो घूमने लगे,
मानों हों धरा के उर से निकले निःश्वास,
घुमड़ी लगाते झूमने लगे गिरिशृंगों पर।
मोर के पंख खोंस कर कराली रासमंडली-सा खेलने लगे,
सूखे बाँस फटने लगे, उसकी बज रही कर्कश बाँसुरी।

और ये भी जैसे कम हो
हुए अग्नि भी कुपित,
डूंगर डूंगर पर घोर दावानल जल उठे।
आँधी का डमरू बजने लगा, पदपद जल उठे दव
मानों महारुद्र शिव ने शुरू किया प्रलयतांडव।
दोपहर में जब भोजन कर रहे थे
आया एक दूत ग्रीष्म के थपेड़े खाता हुआ;
कौर हाथ में ही रह गया।
बुला कर पास
हृदयामृत से शीतलता का देकर अर्घ्य
धीरे धीरे युक्तिपूर्वक बात पूछ ली कवि ने।

सम्राट कान्यकुब्जे जे सुहे श्री हर्षवर्धन,
शास्त्रे कविमनोहर्ष शस्त्रे दुष्टारिमर्दन.
ते सम्राट तणा भ्राता कृष्णे संदेश मोकल्यो,
निष्कारण प्रीतिभाव तेनो कवि परे ढळ्यो :
'अमे तो आपना बंदी गुणानुबद्ध दूरथी,
परंतु चक्रवर्तीनो राखीए वृत्ति ते मथी.
आपनाये घणा आंही दोषगायक,—होय ज !—
तारुण्यचापलो चींधी चारित्र्ये चढवे रज.
तो प्रत्यक्ष कृपा होजो एक वार पधारवा,
आपनी उपस्थिति पात्र छे सौ सुधारवा.'

ए ग्रीष्मनीये वदी ना उल्काजिह्वा कदी शके,
एवां ते तप्त वचनो, सुणी धैर्य चळे न के ?
परंतु पी गया सर्व, टेव ए तो हशेय हा !
प्रभाते प्रीतिकूटेथी परियाण कर्युं महा.
शुक्लस्मित. शुक्लतेज, शुक्लस्रग् शुक्लअंबर;
अंत:शीतलता योगे गण्यो ना ग्रीष्मडंबर.
अमी-ऊभरती आंखे थतुं पुष्पित शुं वन ?
मूंगां विहंगने देतुं कंठ शुं उरगुंजन ?
वच्चे ओळंगीने पुण्य भागीरथी-प्रवाहने
जई प्होंच्या दूत साथे ते महानृपनी कने.
चक्रवर्ती थकी योग चक्रवर्ती तणो थयो,
व्योममां अभिजित् प्रत्ये जाणे बृहस्पति सर्यो.

सम्राट उच्चर्या कर्णे कालकूट समी गिरा :
'आज लंपट ते ?' कंप्युं सुणीने राजमंदिर.

कान्यकुब्ज में थे सोहित सम्राट् श्री हर्षवर्धन—
शास्त्र में जो कविमनोहर्ष
शस्त्र से दुष्टारिमर्दन।
उस सम्राट् के भाई कृष्ण ने भेजा था संदेश,
था कवि पर उसका निष्कारण प्रीतिभाव।
"हम तो हैं आपके बंदी
दूर-स्थ होकर भी गुणानुबद्ध,
किन्तु चक्रवर्ती की वृत्ति को बनाये रखते हैं यत्न से—
हैं यहाँ भी आपके दोषगायक,—होंगे ही—
आपके तारुण्य को चपलताओं की ओर इंगित करके
चढ़ाते हैं चारित्र्य पर रज।
एक बार प्रत्यक्ष आ जाने की कृपा करना,
उपस्थिति आपकी सभी ठीक करने को पात्र है।"

उस ग्रीष्म की उल्काजिह्वा भी नहीं उच्चरित कर सकती,
थे ऐसे ये तप्तवचन,
सुनकर धैर्य भला विचलित हो न क्यों?
परन्तु कवि सब पी गए, आदी हो गये होंगे न!
प्रभात में प्रीतिकूट से किया प्रयाण
शुक्ल-स्मित, शुक्ल-तेज, शुक्ल-स्रग्, शुक्ल-अंबर;
अंतःशीतलता के कारण उपेक्षा की ग्रीष्माडंबर की।
अमृतस्रवित नेत्रों से क्या वन पुष्पित होता था?
उरगुंजन गूँगे विहंग को देता था कंठ!
पार कर भागीरथी के पुण्य प्रवाह को
दूत के साथ उस महानृप के पास पहुँचे।
चक्रवर्ती से हुआ चक्रवर्ती का योग,
व्योम में अभिजित् के प्रति सरका मानों बृहस्पति।
सम्राट् ने उच्चरित की कालकूट जैसी वाणी कर्ण में:
'यही है वह भुजंग?'

खमी खाई, कह्युं धीरां परंतु दृढ वाक्यथी:
'बाल्य हुं अनुशोचुं, आ भुजे कोई सरी नथी.
विवाहे वर्तुं गार्हस्थ्ये; सन्मार्गे सौ रहे नरो
आ राज्ये चापलो ल्हीतां आदरे वनवानरो !
बीजानुं सांभळी बोले एने शुं कथवुं वधु ?
काळे करी मने ने जे हशे ते जाणशो बधुं.'

३

जाण्युं काळे करी सर्व श्रीहर्षे, सेवतां कवि-
स्वयं सरस्वतीहर्ष बन्यो ए जगराजवी.
श्रीहर्षे तो जाण्युं के शो ते शीलाचारलंपट !
मृत्युथीये अकारो ते टळ्यो अकीर्तिनो पट.
मृत्युथी ज शके जाणी प्रीति रे ! एवी प्रेयसी
तणे पद प्रीतिलक्ष्मी कविनी किंतु शुं वसी ? !
प्रीतिकूट निवासे जे पायामां ज हती कथा
प्रीतिनी, मिश्र थै तेमां व्हालांना मृत्युनी व्यथा,
ने यथाकामचारे जे स्फुर्यां यौवनसाहसो,
संसारानुभवोनोये ग्रीष्म सौ शोषतो रसो
स्फुर्यो, तेमा भळ्यो ताप दुष्टापवादउक्तिनो,
सकोरतो उग्र अग्नि हैये भारेली प्रीतिनो ?
चितादाह विनाये, के, बन्युं ते नित्यमृत्युथी
रोमेरोमे सिझावुं ने भुजावुं ? जीववुं मथी !

कांप उठा सुनकर वह राजमदिर।
निगल कर ये शब्द, कहा शान्त किन्तु दृढ़ वाणी में :
'बाल्य के लिए मैं अनुशोच करता हूँ,
इन भुजाओं में रही नही कोई।
विवाह के समय से हूं गृहस्थ।
यहाँ मनुष्य सन्मार्ग पर चलते है,
बदर भी चपलताएँ करते डरते है इस राज्य मे।
दूसरो से सुन कर बोलनेवालो से अधिक क्या कहना?
समय जाने पर जानेगे मुझे सब तरह।'

३

श्रीहर्ष ने जाना समय बीतने पर सब कुछ,
कवि की सगति में वह पृथ्वीपति स्वय बना सरस्वती-हर्ष।
श्रीहर्ष ने जाना कि कैसा था वह शीलाचार भुजग।
दूर हुआ मृत्यु से भी अप्रिय अपकीर्ति का पट।
किन्तु मृत्यु मे ही जान सके प्रीति
ऐसी प्रेयसी के चरणो मे बसी थी
क्या कवि की प्रीतिलक्ष्मी?
प्रीतिकूट निवास की नीव मे ही जो प्रीति की कथा थी
मिली उसमें प्रियजनों की मृत्यु की व्यथा,
और यथाकामचार में किये जो यौवन साहस,
सभी रसों को सोखता
ससारानुभव का ग्रीष्म भी स्फुरित हुआ,
उसमें आ मिला ताप दुष्टापवाद उक्ति का।
हृदयस्थ प्रीति की उग्र अग्नि प्रदीप्त करता?
—कि चितादाह के बिना भी,
हुआ उस नित्य मृत्यु से
सिझना और भूना जाना रोम रोम में?
महा कष्ट से जीते रहना!

प्रीतिने मृत्युनी गाढ अनुभूति थतां स्थिरा,
प्रीतिने मृत्युनी नीको वच्चे व्हेती कविगिरा,
'मृत्युथी जाणशो प्रीति'—ए वाक्ये थंभी अर्चन
आदरी त्यां महामौने, करी सर्व प्रियार्पण
संकेली कविए लीला, पामतां ज प्रकाशन
मृत्युने प्रीतिनुं हैये घूंटायेलुं रसायन ?

४

'मर्ये हुं जाणशो प्रीति !' जाणी एणे ? न जाणुं हुं !
आज कैं शतको वीत्ये उक्तिनो मर्म माणुं हुं.

[मे २५-२६, १६४४]

## मृत्युवड

फांसी दीधी गोडसेने अमोए
गांधीजीना देहने मारनारने.
गांधीजीना जीवने जीवता ने
मूआ केडे मारतुं रे क्षणे क्षणे
पड्युं अमोमां-सहुमां कंईक,
तेने हशे के कदी मृत्युदंड ?

मेरठ
[१५-११-१६४६]

प्रीति और मृत्यु की गाढ़ अनुभूति स्थिर होने पर,
प्रीति और मृत्यु की नाली के बीच बहती कविगिराने,
'मृत्यु से जानोगे प्रीति'—इस वाक्य से रुक कर
महामौन से अर्चना की
करके सब प्रियार्पण ?
मृत्यु और प्रीति का जो हृदय में एकरूप रसायन था,
उसका होते ही प्रकाशन कवि ने समेट ली लीला।

४

'मेरे मरने पर जानोगे प्रीति'—
जाना उसने ? न जानता मैं।
आज अनेक शतक बीतने पर
उस उक्ति के रहस्य का करता हूँ अनुभव।

[मई २५-२६, १९४४]

## मृत्युदंड

फांसी दी गोडसे को हमने
गांधी की देह के घातक को।
गांधी के जी को, उनके जीते जी
और मरने के बाद जो क्षण-क्षण मारने वाला
पड़ा है कुछ हममें—सभी में,
होगा उसको क्या कभी मृत्युदंड ?

मेरठ
[१५-११-१९४९]

## भले शृंगो ऊंचां

मने बोलावे ओ गिरिवर तणां मौनशिखरो.
धसे धारो ऊंची, तुहिन तहीं टोचे तगतगे,
शुचि प्रज्ञाशीळुं स्मित कुमुदपुंजो सम झगे;
वही र्‌हेतो त्यांथी खळळ चिर शाता जळझरो.
ढळी पीतो शृंगस्तनथी तडको शान्ति-अमृत;
मुखे एने केवुं विमल शुभ ए दूध सुहतुं !
हसे नीलुं ऊंडु नभ, हृदय आशिष् वरसतुं.
रसी शीतस्पर्शे दिश दिश, भमे मत्त मरुत.

गमे शृंगो, किन्तु जनरव भरी खीण मुज हो !
तळेटीए वीथी सहज निरमी, शालतरुनी,
रमे त्यां छायाओ; उटज उटजे सौम्य गृहिणी
रचे सन्ध्यादीप; स्तिमित-दृग खेले शिशुकुलो;
स्फुरे खीले व्हीले हृदय हृदये भावमुकुलो;—
भले शृंगो ऊंचां, अवनितल वासो मुज रहो !

[२८-१०-१९५३]

## भले ही ऊँचे शृंग

मुझे बुलाते हैं
गिरिवर के वे मौन शिखर।
बढ़ती धाराएँ ऊँची,
तुहिन वहाँ चोटी पर चमकते,
शुचि प्रज्ञाशीतल स्मित कुमुदपुंज-सा झलकता।
बहता रहता वहाँ से कल कल
छल छल चिर शांति का निर्झर।
झुक कर पीती है शृंगस्तन से धूप
शान्ति-अमृत;
उसके मुँह पर वह विमल शुभ दूध कैसा सुहाता !
हँसता गहन नील नभ,
हृदय-आशिष बरसाता,
शीत स्पर्श से रसमय करके दिशदिश को,
बहता मत्त मरुत।

शृंग पसंद,
मेरी हो किन्तु जनरव से भरी घाटी !
तलहटी में सहज ही शालतरु की बना कर वीथी,
खेलें वहाँ छायाएँ,
उटज-उटज में सौम्य गृहिणी रचती-सन्ध्या-दीप,
शिशुकुल खेलते स्तिमित-दृग,
प्रस्फुटित हों, खिलें मुरझाये हर हृदय में भावमुकुल;—
भले ही ऊँचे शृंग,
मेरा निवास हो अवनितल !

[२८-१०-१९५३]

## गयां वर्षो—

गयां वर्षो ते तो खबर न रही केम ज गयां !
गयां स्वप्नोल्लासे, मृदु करुणहासे विरमियां !
ग्रह्यो आयुर्मार्गे स्मितमय, कदी तो भयभर्यो;
बधे जाणे निद्रा महीं डग भरुं एम ज सर्यो !
उरे भारेलो जे प्रणयभर, ना जंप क्षण दे,
स्फुर्यो कार्ये काव्ये, जगमधुरपो पी पदपदे
रची सोहार्दोनो मधुपुट अविश्रांत विलस्यो.
अहो हैयुं ! जेणे जीवतर तणो पंथ ज रस्यो.

न के नाव्यां मार्गे विष, विषम ऑथार, अदया
असत् संयोगोनी; पण सहुय संजीवन थयां.
बन्या को संकेते कुसुम सम ते कंटक घणा.
तिरस्कारोमांये कहींथी प्रगटी गूढ करुणा.
पडे द्रष्टे, डूबे कदिक शिवनां शृंग अरुणां :
रह्यो झंखी, ने ना खबर वरसो केम ज गयां !

[२१-७-१९५३]

## जो वर्ष बीते

बीते जो वर्ष—
पता ही न रहा कि कैसे बीते ?
स्वप्नोल्लास में बीते. विलीन हुए मृदु करुणहास में।
ग्रहण किया आयुपथ कभी स्मितयुक्त, कभी भयभरा।
मानो सदा निद्रा में ही डग भरता भरता
चलता रहा।
हृदय में जो प्रणयभार जमा हुआ है,
वह क्षणभर भी न लेने देता चैन,
कार्य और काव्य में वह प्रकट हुआ,
जगमधुरिमा पद पद पर पीकर,
सौहार्दों का मधुपट रच कर,
विलसित होता रहा अविश्रान्त।
अरे यह हृदय !
इसीने तो रसमसा दिया आयुष्यपथ।

ऐसा नहीं कि न मिले हों मार्ग में।
विष, विषम स्वप्न-संत्रास, असत् संयोगों की
अदया।
किन्तु सभी बन गए संजीवन;
किसी संकेत से अनेक काँटे कुसुम-से बन गए।
तिरस्कारों के मध्य मे भी कहीं से प्रकट हुई
गूढ करुणा।
कभी दीखते हैं, कभी डूबते हैं,
शिवत्व के वे अरुण शृंग:
मैं तो रटता ही रहा,
और न जाने कैसे बीत गए वर्ष !

[२१-७-१९५३]

## रह्यां वर्षो तेमां—

रह्यां वर्षो तेमां हृदयभर सौन्दर्य जगनुं
भला पी ले; व्हीले मुख फर रखे, सात डगनुं
कदी लाधे जे जे मधुर रची ले सख्य अहींयां;
नथी तारे माटे थई ज, निरमी 'दुष्ट' दुनिया.
अहो नानारंगी अजब दुनिया ! शे समजवी ?
तने भोळा भावे करुं पलटवा, जाउं पलटी;
अहंगर्तामां हा पग, उपरथी, जाय लपटी !
विसारी हुंने जो वरतुं, वरते तु मधुरवी.—

मने आमंत्रे ओ मृदुल तडको, दक्षिण हवा,
दिशाओनां हासो, गिरिवर तणां शृंग गरवां;
निशाखूणे हैये शशिकिरणनो आसव झमे;
जनोत्कर्ष-ह्रासे परम ऋतलीला अभिरमे.

—बधो पी आकंठ प्रणय भुवनोने कहीश हुं :
मळयां वर्षो तेमां अमृत लई आव्यो अवनिनुं.

[२१-७-१९५३]

## जो वर्ष रहे उनमें

जो वर्ष रहे उनमें
हृदयभर पी ले जगत् का सौन्दर्य भाई !
मुँह लटकाये न फिर !
सप्तपद का सख्य—
यहाँ जब कभी मिल जाय
तो तू उसे मधुरतम बना ले !
भाई, तेरे ही लिए यह दुनिया 'दुष्ट' नहीं बनाई गई।
—अहो ! नानारंगी अजीब दुनिया ! कैसे समझा जाए तुझे ?
भोलेपन से मैं तुझे पलटने का प्रयत्न करता हूँ
और पलट जाता हूँ मैं !!
तिस पर अहंगर्ता में, हाँ, पैर फिसल जाता है !
पर अगर मैं 'मैं' को भूल कर व्यवहार करूँ
तो तू कितनी मधुरता से बाज आती !—

मुझे निमंत्रित कर रहे हैं—
वह मृदुल धूप, दक्षिण हवा,
दिशाओं के हास, गिरिवरों के गौरवमय शृंग,
रात्रि के किसी कोने में हृदय में
शशि-किरणों के आसव की फुहार !
जन-उत्कर्ष में, ह्रास में परम ऋतलीला ही
विलसित हो रही है !

सारी स्नेह-सुषमा को आकंठ पीकर
भुवनों से यह कहूँगा :
वर्ष जो प्राप्त हुए उनमें
अमृत ले आया अवनि का !!

[२१-७-१९५२३]

# 'अभिज्ञा' से

## છિન્નભિન્ન છું

ગરાક્રંદમો

છિન્નભિન્ન છું.
નિશ્છંદ કવિતામાં ધબકવા કરતા લય સમો,
માનવજાતિના જીવનપટ પર ઊપસવા મથતી કોઈ ભાત જેવો,
ઘરઘર પડેલ હજી નવ-હાથ-લાગ્યા ભિક્ષુકના ટુક જેમ,
વિચ્છિન્ન છું.

કોણ બોલી ? કોકિલા કે ?
જાણે સ્વીચ્ ઑફ્ કરી દઉં.
તરુઘટામાં ગાજતો આ બુલબુલાટ
કુદરતના શું રેડિયોનો
સાંસ્કૃતિક કો કાર્યક્રમ !
ચાંપ બંધ કરી દઉં ? શું કરું એને હું ?
વસંતપંચમી કેમ આવી ને કેમ ગઈ,
મને ખબર સરખી ના રહી !

પ્રકૃતિ, તું શું કરે ?
મારી પ્રકૃતિની જ જ્યાં રામાયણ છે.
માની લીધેલી એકતા વ્યક્તિત્વની
શતખંડ ત્રુટિત મેં નજરોનજર દેખી લીધી છે
રાગમૂર્તિ, દ્વેષમૂર્તિ, ભયમૂર્તિ—
ત્રિમૂર્તિએ ઘાટ દેવા બહુ કીધું.

તમારે સ્મરણે રુધિર નાચી ઊઠ્યું,
તમારે દર્શે હૃદય રાચી ઊઠ્યું,
ને વિરહમાં બસ મરણ યાચી ઊઠ્યું,
તમે મારી ઝંખનાનું મધુર પ્રેયોરૂપ
રામમૂર્તિ, નમોનમો !

## छिन्नभिन्न हूँ

छिन्नभिन्न हूँ ।
निश्छन्द कविता में धड़कने को करती लय-सा,
मानवजाति के जीवन-पट पर उभरने को यत्न करती
किसी रेखान्विति-सा,
घर घर पड़े अभी तक न हाथ लगे भिक्षुक के टूक समान
—विच्छिन्न हूँ ।

कौन बोली ? कोकिला क्या ?
चाहता स्विच् आफ् कर दूँ ।
तरुघटा गूँजती में यह बुलबुलाहट—
प्रकृति के रेडियो का
क्या सांस्कृतिक कोई कार्यक्रम ?
कल बन्द कर दूँ क्या ? क्या करूँ इसे मै ?
वसन्त पचमी कैसे आई और कैसे गई,
मुझे ख़बर तक न रही ।

प्रकृति, क्या करे तू ?
मेरी ही प्रकृति का जहाँ झमेला है ।
मानी हुई एकता व्यक्तित्व की
शतखंड त्रुटित प्रत्यक्ष मैंने देख ली है ।
रागमूर्ति, द्वेषमूर्ति, भयमूर्ति—
त्रिमूर्ति ने आकार गढ़ने के लिए बहुत किया ।

तुम्हारे स्मरण से रक्त नाच उठा,
तुम्हारे दर्शन से हृदय राच उठा,
और विरह में मरण याच उठा,
तुम मेरी कामना के मधुर प्रेयोरूप
रागमूर्ति, नमो नमो !

तमे मारी वामनानु कालकूट विरूप,
आंखनी प्याली मही ऊछळेल अग्निकूप,
ऊडेल श्वासोच्छ्वास साथे दग्ध हैयाधूप,
तमारा स्पर्शे नयन-पक्ष्मो विखूटा—
द्वेषमूर्ति, नमोनमो !

तमारा शव-आश्लेषथी शीत छूट्या,
हीर हैया तणा छेक सुकाई खूटया,
चेतनास्पन्दनो मद आक्रंद-डूब्या,
तमे मारी कामनानो नग्न निश्छल छद—
भयमूर्ति, नमोनमो !

एक-केन्द्र व्यक्तित्व करवा मथ्या तमे मारे माटे
अने दीक्षा आपी प्रेमधर्मनी,
जेना कखगघनेंगे पामवान केमे करी
फावनु नथी हजीय.
ने छनाय गाडु आ गबडे छे,
किचड-खट-चू किचूड-चू खट.
जुओ पेला मारा प्रियतम श्रीमानने
प्रेम द्वारा चाहता नथी आवडत एमने,
धिक्कार द्वारा ज चाहता फावे. छे भला जीवने
भले एम नो एम, झघडवान समय क्या छे ?
तमारी शरते चाहीश तमने
अने आ रह्या मारा द्वितीय-हृदय
पोतानी पामरताथी खरडे छे वहने,
पोतानी वकाई थकी मरडे छे सहुने.
अरे ऐथी सारी रीते वनवु एने शक्य होत,
तो आ रीते कोई कदी वर्ततुय हशे खरु के ?

तुम मेरी वासना के कालकूट विरूप,
आँख की प्याली में उछले अग्निकूप,
उड़ी हुई श्वासोच्छ्वास के साथ दग्ध हृदय-धूप
तुम्हारे स्पर्श से नयन-पलकें वियुक्त---
द्वेषमूर्ति, नमो नमो !

तुम्हारे शव-आश्लेष से छूटे शीत,
सत्त्व हिये के सारे सूख कर चुक गए,
चेतना-स्पन्द मंद, आक्रन्द-डूबे,
तुम मेरी कामना के नग्न निश्चल छन्द—
भयमूर्ति, नमो नमो !

एककेन्द्र व्यक्तित्व को करने जुझे तुम मेरे लिए
और दीक्षा भी प्रेमधर्म की,
जिसके क ख ग घ को सीखने का यत्न भी करूँ,
पर जमता नहीं अब भी।

और फिर भी यह गाड़ी लुढ़कती चलती है
किचूड़-खट-चूँ किचूड़-चूँ-खट्।
देखिए मेरे उन प्रियतम श्रीमान को,
प्रेम द्वारा चाहना आता नहीं जिन्हें,
धिक्कार द्वारा ही चाहना अनुकूल है भले जीव को।

ऐसा तो ऐसा ही सही, झगड़ने का समय कहाँ ?
तुम्हारी शर्त पर चाहूँगा तुम्हें।

और ये हैं मेरे द्वितीयहृदय,
स्वयं भी पामरता मे रगड़ते हैं बहुतों को
स्वयं के टेढ़ेपन से मरोड़ते सभी को।

अरे, इससे अच्छी रीति से व्यवहार करना
इनके लिए शक्य होता,
तो, इस प्रकार भला कोई कभी बरतता क्या ?

ने ओ पेला भूतपूर्व...मारा.
अपूर्व अनुभव थयो एमना निमित्ते
वारंवार रट्यां कर्यु मारा मने :
    तमने धिक्कारवानी मने फरज नहि पाडी शको.
    कदीय धिक्कारी शकाय, एक वार चाह्युं जेने ?

अरे, तुं तो दुनियाने कांई ज समजतो नथी !
—कहे छे अनेक मने.
बीजा कहे : दुनियानो छेक ज छे जीव तु.
हा, दुनियाओ शिष्य छुं हुं.
दुनिया तो दुनियादारीमां मानती नथी ज नथी.
नथी एणे याद राख्या कोटिपति,
सफळताना शहीदोने नथी ते संभारती.
मोटामोटा थईने जेओ फर्याता तेनेय
विस्मृतिनी राख नीचे दबूरी दीधा छे एणे.
दुनिया दुनियादारीमां मानती जो होत तो ता
कविओने, पागल पेला प्रेमीओने, संतोने
संभारत क्षणेय शा माटे ?

संभारे न संभारे कोई एनी तथा शाने ?
स्मृति ? हा स्मृति ए ज तो जीवन छे.
आ पृथ्वीनां पड ते चिरंतन टकशे, ने आ उष्मा
हृदय तणी ते विफळ विखरशे ?
ना, ना, ना ! सूर्यने गरम राखवामां ए जरी जरीक शो
सहारो देशे,
हृदयहृदयना धबकारे ते पुनर्जीवती त्रिभुवनदिग्विजयी
संचरशे.

कोण जाणे ?
अटाणे तो धबको आ एक पछी एक ओछो
थतो जाय.

और वे भूतपूर्व...मेरे।
अपूर्व अनुभव हुआ इनके निमित्त।
बार बार रटता रहा मेरा मन :

तुम्हें धिक्कारने को मजबूर नहीं कर सकोगे मुझे।
धिक्कार सकते हैं क्या कभी एक बार चाहा जिसे?

अरे तू तो दुनिया को कुछ समझता ही नहीं!
—कहते हैं अनेक मुझे;
अन्य कहते : ठेठ दुनियाका ही जीव है तू।
हाँ, दुनिया का शिष्य हूँ मैं।
दुनिया तो दुनियादारी में मानती ही नहीं!
नहीं इसने याद रखे कोटिपति,
सफलता के शहीदों को नही यह याद करती।
बड़े बड़े होकर जो घूमे थे उनको
विस्मृति की राख के नीचे ढंक कर सुला दिया इसने।
दुनिया यदि दुनियादारी में मानती होती—
कवियों को, पागल उन प्रेमियों को, सन्तों को
स्मरण करती क्षण मात्र भी क्यों?

स्मरण करे या न करे कोई, इसकी सोच क्यों?
स्मृति? हाँ स्मृति ही तो जीवन है।
इस पृथ्वी की तहें चिरन्तन टिकेंगी
और यह उष्मा हृदय की विफल बिखरेगी?
ना, ना, ना, सूर्य को गरम रखने में यह ज़रा
ज़रा-सा भी सहारा देगी
हृदय-हृदय के स्पन्दनों में वह पुनर्जीवित होती
संचरेगी त्रिभुवन-दिग्विजयिनी?

कौन जाने?
इस समय तो धड़कनें एकके बाद एक कम हो रहीं।

अनंतीकरण एनुं शक्य हशे ? जाय—
वैशाखी खाखी लू-लीला वरसे आकाशथी त्यां
पुल पर थई जाय—सरी जाय बस.
गॉगल्स-आंखों चिंतनमां डूबेलीय ते होय तोये
नीचेथी, साबर, तारुं पातळुंक झरणुं
—आनन्त्य-मृगजळ प्रति दोट देतुं भोळकडुं हरणुं—
ए क्षीण प्रवाह-पटीनो टाढकनो धार
पुल वींधी वैशाखी दोजख महीं आरपार
मारा चैतन्यने अडे ने ठारे अर्धक्षण
दोट दई रहेली बस फरी थाय आहुति
ग्रीष्मना लू-यज्ञनी ज्वाळाओ महीं ते पहेलां.

मारा लघु हैयानो आ अजाणी धबक
एटलुं जो करी शके ? एटलुं ना करी शके ?
कदाचने ना करी शके तो···

दिनरात रातदिन खिन्न छुं,
एक-केन्द्र थवा मथी रहेल किलन्न छुं,
धबकधबकमां ऊंडी रहेल छिन्नभिन्न छुं

[३, १६-२-१९५६]

अनंतीकरण इनका क्या शक्य होगा ?
जाती है—
बैसाखी अवधूत-सी लू-लीला बरसती आकाश मे इतनेमें
उस पुल पर से जाती है —
गुजर जाती है बस।
गोगल्स-आँखे चिंतन मे डूबी हुई हो तब भी
नीचे से, साबरमती, तेरा पतला-सा झरना
—आनन्त्य मृगजल के पीछे दौडता अबोध हिरन
वह क्षीणप्रवाह पट्टीकी ठडक की धार,
पुल बिंध कर
बैसाखी इस दोजख मे आरपार
मेरे चैतन्य को छुए और शीतल करे क्षणार्ध,
दौडती हुई बस
फिर आहुती बन जाए ग्रीष्म के लू-यज्ञ की
ज्वालाओ मे इसके पूर्व।

मेरे लघु हृदय की यह अनजान धडकन
इतना यदि कर पाए ! इतना न कर पाए ?
कदाचित न कर पाए तो...

दिनरात, रातदिन खिन्न हूँ,
एककेन्द्र होने को जूझता क्लिन्न हूँ,
स्पन्द-स्पन्द मे उडता छिन्नभिन्न हूँ।

[३, १६-२-१९५६]

## શોધ

पुष्पो साथे वात करवानो समय रह्यो नहीं.
पुष्पो, पृथ्वीना भीतरनी स्वर्गिली गर्विली उत्कंठा;
तेजना टापुओ, संस्थानो मानवीअरमानना;
पुष्पो, मारी कविताना ताज़-ब-ताज़ शब्दो.

गर्भमां रहेला बाळकनो बीडेली आंखो
माताना च्हेरामां टमके,
मारा अस्तित्वमां एम काव्य चमकतुं तमे
जोयुं छे ?

कविता, आत्मानी मातृभाषा;
मौननो देह मूर्त, आसव अस्तित्वनो;
स्वप्ननी चिर छबि. क्यां छे कविता ?

जोउं छुं हुं, दुर्गम छे, दुर्लभ छे
पृथ्वीना सौ पदार्थोमां ए पदार्थ.
क्यारेक तो शब्दमां ज सरस्वती लुप्त थती.
क्यारेक होलवायेला हैयानी वास अकळावी रहे,
क्यारेक वळी अर्धदग्ध खयालोनो धूवा गूंगळावी रहे.
खरे ज छे दुराप कवितापदार्थ.

घरनी सामेनो पेलो छोड वधी वृक्ष थयो.
टीकीने जोयां कर्यो छे में वारवार एने.
 एने जांबु आव्यां, ने मने आँसु;
 वध्यो ने फळ्यो ए, हुं वध्यो फांसु.

खाउं छुं, पीउं छुं, खेलुं छु, कूदु छुं.
व्होळो धरती मातानो खोळो आ खूंदुं छुं.
क्यां छे कविता ?

प्रभुए मने पकड्यो'तो एकवार.
संध्याना तडकाथी ए वृक्षनां थड रंगतो'तो,

## शोध

पुष्पों से बात करने का समय रहा नहीं।
पुष्प, पृथ्वी के भीतर की स्वर्गीय गर्वीली उत्कंठा;
तेज के टापू, संस्थान मानव-अरमान के;
पुष्प, मेरी कविता के ताज़-ब-ताज शब्द।

गर्भ में रहे शिशु की मूँदी हुई आँखें
माता के चेहरे में टिमटिमाएँ,
ऐसे, मेरे अस्तित्व में काव्य चमकता
आपने देखा है?

कविता, आत्मा की मातृभाषा;
मौन की देह मूर्त, आसव अस्तित्व का;
स्वप्न की चिर छवि, कहाँ है कविता?

देखता हूँ दुर्गम है,
दुर्लभ है पृथ्वी के सभी पदार्थों में यह पदार्थ।
कभी तो शब्द में ही लुप्त होती सरस्वती।
कभी बुझे हिये की बू जगाए अकुलाहट!
कभी फिर अर्धदग्ध ख़यालों का धुँआ घोंटता रहे।
है हो दुराप कविता-पदार्थ।

घर के सामने यह बिरवा बढ़ कर बन गया पेड़।
देखा किया है बारीकी मे मैंने इसे बार बार।
उसको लगे जामुन, और मुझे आँसू;
बढ़ा और फला वह, मैं बढ़ा फालतू।
खाता हूँ, पीता हूँ, खेलता हूँ, कूदता हूँ।
धरती माता की बड़ी गोद यह रौंदता हूँ।
कहाँ है कविता?

पकड़ा था ईश्वरने मुझे एक बार।
संध्या की धूप से वह रंग रहा था वृक्षों के तने,

त्यां हुंये मारी आंख वडे चडावतो ओप हतो.
बीजो वार, गाडीमां हुं जतो हतो, एकलो ज
अडधिया डब्बामां, त्यां नमता पहोरना
नवुं नवुं युगल को प्रवेश्युं. प्रभुए ताजां
नववधूना च्हेरामां गुलो छलकाव्यां हतां.
खसी गयो बीजे त्यांथी हुं, ए गुलाबी छोळोमां
शरमना शेरडानी छाया आछी उठावीने.

प्रभुने सौ आवु बधु पसंद बहु होय एवु
लागे पण छेय ते.

शाऽऽ माटे नहीं तो दुनियानी भारे मोटी
कामगीरी होय एम, जाणे ए विना बधुं
अटको पडवानु न होय एम, वारे वारे
संडोवे छे कंईक ने कैंक आवामां मने ए ?

रस्ते चाल्यो जतो होउं अने कोई दूर दूर
सहस्र जोजन थको आवेला पंखीनी साथे
मुलाकात गोठवो बेसे छे मारी, पूछ्या विना
मने, कोई वाड पासे. लक्षावधि
प्रकाशवर्षोथी व्योमे टमटमाता तारा पासे
आंख मिचकारावे छे ए आ हुं जे
"अन्-रोमेन्टिक" तेनी सामे.
शरीमांना पेला बालुडियाने मारी सामे
खिलखिल हसावी दे छे, अयुत वर्षोने अते
प्रगटेला मानवी आज लगीनो आखीय
यात्रानी-भावी आकांक्षानी पताका लहेरावी

मैं भी वहाँ अपनी आँखो से पोत रहा था अप ।
दूसरी बार, गा । म जा रहा था मै,
अकेला ही छो डिब्बे मे,
तभी ढलते प्र र न मय
नये-नये किर्स गल प्रवेश किया ।
ईश्वरने नवद के त्रे पर ताजा गुल छलकाये थे ।
खिसक गया वहा से मैं,
उन गुलाब। तरगो म,
लज्जा की र्नी की छाया बारीक उभार कर।

ईश्वर को त्र ऐसा वैसा पसन्द बहुत हो
ऐसा लगता भी तो है।
नही तो क्यो दुनिया की बहुत बडी
जिम्मेदार हो,
मानो इसके सिवा जैसे सब कुछ
थम जानेवाला हो,
बार बार वह कुछ न कुछ घसोटता
है मुझे क्यो इन सबमे ?

चला जा रहा होऊ रास्ते र
और सहस्रयोजन की दूरी मे आए हुए
किसी पछी से मुलाकात पक्की कर देता है मेरा,
बिना पूछ मुझसे, किसी बाडे के पास ।
लक्षावधि प्रकाशवर्षा से टिमटिमाते
तारक द्वारा आँख-मिचौना करवा लेता है वह
मुझ जैसे 'अन्-रोमान्टिक' के म ।
गली के उस नन्हे बालक ी और
खिलखिला कर हँसा देता ह,
अयुत वर्षो क बाद प्रकट मान की
आज तक की सारी यात्रा की---
भावी आकाक्षा की पताका फहरा देता है

दे छे ए नाजुक कलहास्तमा विजयभेर.
रे रे शिशुओनं कलहास्य माणवानो समय रह्यो नहीं.
शिशुओन हास्य, मारी कवितानो शुभ्र छंद.
शब्द छे ! छे छद पण ! क्या छे तो कविता ?

शिखरो पर ऊर्ध्वबाहु आरडे महानुभावो,
शताब्दीथी शताब्दी सुधी खोंचतो बुलंद स्वर,
ऊतरे ना अंतरमा, झमे ना जरीय चित्ते.
खीणो भरी गोरभातो भूतकाळनो ए ध्वनि,
पड्यां करे पडछदा निरंतर अविरत.
पडघानो देश आ, शब्द नहीं, प्रतिशब्द पुजातो ज्यां.
प्रतिध्वनिथी बधिर बनी गया कान कई
एकमेकनु न केमे सुणवा पामे, कदीक
बोलवा करे जरी तो.
—नथी मार्ग अन्य, वही
जाय पणे उरोगामी सरिता धीरेथी. निज
कलकल्लोलधूने मस्त, तेम सरी जवु.
मळी जाय यात्री तेने अर्पवु हृदयगीत.—
क्यारे वळी अहम नडे-कनडे छे, हैयु कहे :
शीद गाउ ? मुखना ओडकार आना,
पेलानो प्रेम, अने अन्यना उल्लासकेफ !

उस नाजुक कलहास्य मे विजय के साथ।
अरे, शिशुओ के कलहास्य मे
आनदित होने का समय रहा नही।
शिशुओ का हास्य, मेरी कविता का शुभ्र छद।
शब्द है! है छद भी! तो कहा है कविता?

शिखरो पर चीखते ऊर्ध्वबाहु महानुभाव,
शताब्दी से शताब्दी तक पहुचता बुलद स्वर,
उतरता नही भीतर,
रिसता नही जरा भी चित्त मे।
घाटिया भर कर मंडराती-गूजती
भूतकाल की वह ध्वनि,
पडती रह प्रति-ध्वनिया निरतर अविरत।
देश यह प्रतिध्वनिया का,
जहाँ शब्द की नही प्रतिशब्द की पूजा होती।
प्रतिध्वनि स बधिर हो गये कान,
कभी बोलने का यदि यत्न किया जरा भी तो
एक दूसरे को सुनन न पाएं।
—नही है अन्य मार्ग,
बही जा रही वहा उरोगामी सरिता धारे मे,
कल-कल्लोल-धुन मे मस्त,
ऐसे ही सरकते जाना।
मिल जाए जो यात्री उसे अर्पित करना हृदयगीत।—
कभी फिर अहम् बनता हे बाधारूप–
सताता है,
कहता हृदय क्यो गाऊँ?
सुखबोध इसका,
उसका प्रेम,
और अन्य के उल्लास-कैफ!

मारे बस गावानुं ज ? उच्छिष्ट जे बीजाओना
जीवननुं, शब्दोमां संचय करीने तेनो
कृतार्थ थवानुं मारे ?
कविजीवन अरेरे शुं उप-जीवन ?

अरे ! अरे !
अहना भरडामां आव्युं ए ज कें ओछुं जीवन छे ?
जीवन तो ते, जे कें थयुं आत्मसात् आत्मरूप.
आ आंखो जे जुए छे एटलुं ज शुं ए जुए छे ?
तो तो ते कशुं ज नथी जोती. आँखो आंधळी छे.
पेलां वृक्षो, छुट्टां, लीलां पल्लवे घेघूर डोले,
केवां छे मजानां ! गमी जाय एवां छे ! परंतु
एक वेळा अहीं आ एक स्थळेथी जोवाई जतां
ए बधां अनोखी कोई एक-रचनामां गोठवाई गयां.
वृक्षो न रह्यां, वृक्षमय कशुंक लोकोत्तर सत्त्व,
मात्र त्यां फैलाई रह्यं.—ए ज तो सौन्दर्य.—
आंख, तें ए जोयुं ? आज सुधी कां न जोयुं तें ए ?
आंख द्वारा कोईके ए जोयु.
आंखमां ए कोईक हतुं अने ते आ पळे ब्हार
कूदी शुं रेलाई रह्युं ?
ए क्षणार्ध तो हुं नर्यो वृक्ष-रचना-मय हतो.
तदात्म हु एम सर्व विश्वना पदार्थ थकी
थई तो शकुं ज. किंतु शी रीते ए हशे साध्य ?

मुझे केवल गाना है ?
उच्छिष्ट जो दूसरों के जीवन का,
शब्दों में संचित करके होना मुझे उसका कृतार्थ ?
कवि-जीवन अरे रे क्या उप-जीवन ?

अरे ! अरे !
अहं के जरठ दबाव में जो आ पाया
क्या केवल वही है जीवन ?
जीवन तो वह, जो कुछ हुआ आत्मगत, आत्मरूप ।
ये आँखें जो देखती हैं इतना ही क्या वे देखती हैं ?
तब तो वे फिर कुछ भी नही देखती,
अंधी हैं आँखें ।
वे वृक्ष, छुट्टे, हरे पल्लवों मे डोलते छननार,
कैसे प्यारे हैं ! पसद आ जाएँ ऐसे हैं !
परन्तु एक बार यहाँ इस एक स्थल में दिखाई देने पर
अनूठी किसी एक-रचना में ढल गये वे सब ।
न रहे वृक्ष, वृक्षमय कोई लोकोत्तर सत्त्व ही
वहाँ व्याप्त हो रहा,—यही तो सौन्दर्य है :—
आँख, देखा यह तूने ?
आज तक क्यों नही देखा !
आँख द्वारा किसी औरने देखा यह ।
आँख में था कोई और जो इसी पल
बाहर कूद कर बह चला कैसा ?
उस क्षणार्ध के लिए तो मैं था निरा

वृक्ष-रचना-मय ।
विश्व के सर्व पदार्थों के साथ
तदात्म मैं ऐसे, हो सकता ही हूँ,
किन्तु कैसे हो सकता होगा वह साध्य ?

सौन्दर्यानुभूति द्वारा,
कविता द्वारा अमोघ.
सौन्दर्यनी सेर छद-शब्द-मां हुं ऊपसेल।
जोवा करुं, पुष्पो अने शिशुकलहास्य तणा
परिचये कंक,
देखाती न-देखाती ते हाथताळी दई, मारा
खेन्या करे अहो सताकूकडी चैतन्य साथे
अहोरात,

राने रस्ताना वळांके मोटरनी रोशनीए
अजवाळी दीधु एक झुड नानी गौरीओनु
उन्मवथी वळतु जे, वर्षाभीजी मांडी साजे,
पडखेना वृद्ध जोई रह्या विस्फारित नेत्रे
भविष्यनु ते निर्मल सकल आशारहम्य
फेलायेल मुग्ध निज दष्टिनी समक्ष तही.

कन्याओना आशा-ऊल्लास वधाववानो समय रह्यो नही.
कन्याओनी आशा, मारी कवितानी नसोनु रुधिर.
क्या ?—क्या छे कविता ?

[७-७-१९५९]

सौन्दर्यानुभूति द्वारा,
कविता द्वारा अमोघ।
सौन्दर्य की नड़ी छन्द-शब्द में उभरी हुई
देखना चाहूँ मैं,
पुष्प और शिशु-कलहास्य से
अपने कुछ परिचय के बूते पर;
दीखती न दीखती और सफ़ाई से सरक जाती,
खेला करे मेरे चैतन्य के साथ
आँख-मिचौनी वह दिनरात।

रात के समय रास्ते के मोड़ पर
मोटरकार की रोशनी ने उजागर कर दिया
गौरियों का एक वृन्द,
उत्सव से लौट कर आ रहा था जो,
वर्षा भीगी शामको देरी से;
पार्श्व में वृद्ध देखते रहे विस्फारित नेत्रों से
भविष्य का वह निर्मल सकल आशा-रहस्य
फैला हुआ मुग्ध अपनी दृष्टि के समक्ष वहाँ।

कन्याओं के आशा-उल्लास की बधाई के लिए
समय रहा नही।
कन्याओं की आशा, मेरी कविता की नसों का रुधिर।
कहाँ ?—कहाँ है कविता ?

[७-२-१९५९]

## शिशु

तरवरे छे आंखनी सपाटी पर जोव
बोलुंबोलुं थतो,
जगतने स्पर्शवा मथतो.

जगना पदार्थो अवाजो मनुष्यो मुधीनां अंतरो
पामी शके ना, तरवरे कीकी-सपाटी पर
आ म ते म.

क्षणमां केटले ऊंडे अदर दूर पहोंची जाय
सुगम ए तो अरे एने,
शब्दना अंचळा नीचे छुपावुं शक्य ना जेने.
अतळ ऊंडाण सुगम एने जे
नवाण ए जीवन रहेशे वाण ज्यारे फूटशे ?

[१२-४-१९६५]

## शिशु

तैरता-झलकता आँख की सतह पर जीव
बोलने-बोलने को होता,
जगत को छूने को मचलता।

जग के पदार्थों, आवाज़ों, मनुष्यों
तक की दूरियाँ
वह आँक नहीं पाता,
तरलायित उसकी पुतली
इधर-उधर।

क्षण में कितने गहरे भीतर, दूर पहुँच जाता है
सुगम है वह तो उसे,
शब्द के आवरण के नीचे छिपना
शक्य नहीं जिसके लिए।
उसे सुगम है जिसकी अतल गहराई
वह निधि बचा रहेगा क्या जब फूटेगी वाणी ?

[१२-८-१९६५]

## गाडी घणा गाउ कापे

गाडी घणा गाउ का‌‍ ‍ 
घर बधा रही जाय
मारगनी कोरे

उतारुने ठालवे को एवा ठा
—जे तो नही कोईनुये घर
ज्याथी रह्या दूर दूर घर

पग कापे खास्सु तो अतर,
लई जाय ऊभु छे ज्या घर
अरे तोय शुय छेटु रही जाय,
घरना ए मानवीथी.

आख ठीक जोई तो ले च्हेर,
पण सामे भटकाय म्होरो,
अथवा तो पोते ज पोतानी पीछोथी
रगी दे म्होरो ए च्हेरा परे.
भीतरना कमाड ऊघडे न ऊघडे त्या धडाक भिडाई जाय,
आखोना गोख मही
तिराडनो आरपार जरीक देखाई जाय
अमाप अतर

गाडी घणा गाउ कापे,
घर बधा रही जाय
मारगनी कोरे

[३-२-१९६६]

## गाड़ी कितने ही कोस काटे

गाड़ी कितने ही कोस काटे,
घर तमाम रह जाते,
मारग की कोर पर।

ऐसे स्थान उतारती यात्रियों को
—जो नहीं किसी का भी घर,
जहाँ से रहे दूर-दूर घर।

पैर काटते काफी दूरी,
ले जाते खड़ा है जहाँ घर।
अरे, फिर भी कैसी तो दूरी रह जाती है
घर के उन लोगों से।

आँख ठीक से देख लेती है चेहरा,
किन्तु सामने टकराता मुखौटा.
या तो खुद ही अपनी कूँची से
रँग देती है मुखौटा उस चेहरे पर।
भीतर के किवाड़ खुले न खुलें
इतने में धड़ाक-से भिड़ जाते,
आँखों के ताख में
दरार के आरपार तनिक दीख जाती
अमाप दूरी…

गाड़ी कितने ही कोस काटे,
घर तमाम रह जाते
मारग की कोर पर।

[३-८-१९६६]

## राजस्थानमां पसार थतां

बारी बहार छूटी धसी दृष्टि
अहो मोकळाश !
...भाई, बेसो जगा छे, गाडी छे बधानी.
हाश ।
गडड गडड ! गडड गडड !—गडे गाडी.
दृष्टि मारी बारी बहार नासी छूटी धसी

मनडु आ अखूट वेरान बनी जाय.
संकल्पविकल्प बधा छूटा घेटा समा
हेठा श्वास धरतीना हा-न-हा ते तृण
खची काढ चर्या करे

ओहो ! पेलो दूर डाकायो डुंगर
चित्त अर्धेर्नाने तने थय जीव-भर
धारधार चढी जई ऊंचेरा शिखर पर
मंदिर-ध्वजाए थरकी रह्य फरफर
फरकी रह्य थरथर

.. ? पाणी ढळ्यु लई लो सामान ऊंचो !
ढळी गयो काचो कूजो !
रगमां पाणीना भला दर्शन करावी गयो
गडड गडड ! गडड गडड ! गडे गाडी.

पाणी ? पाणी ता अहीं पाताळकूवे, अथवा त
ओ पण अकाशे, ज्या
काळमींढ खडकानी भींता
माथे गई. जाणे
उगामेली मुक्की आ भकार धराए
पाणीनी अचूक दीपे ए एंधाणी

## राजस्थान से गुजरते हुए

खिड़की से बाहर छूटकर बढ गई दृष्टि ।
अहो कैसा खुलापन !
...भाई, बैठो, जगह है, गाडी तो है सब की ।
हाश् !
गडड गडड ! गडड गडड ! गड रही गाड़ी ।
दृष्टि मेरी खिड़की से बाहर छूटती भागती बढ़ गई ।

मन यह अखूट वीरान बन जाता है,
संकल्प-विकल्प सब छूटे भड़ों-से
हलकी सास से धरती के हों-न-हों उन तृणों को
खीच कर चरते रहते ।

ओहो ! दूर वह झाँक पडा डगर ।
चित्त उसे टेक कर हुआ गंभीर,
उसकी धार-धार के सहारे चढ कर ऊँचे शिखर पर
मदिर-ध्वजा के साथ
थिरक रहा फरफर
फहराता थरथर ।

...पानी ढुलक गया ? ल लो मासाभ ऊँचे,
कच्चा कूजा फिसक गया !
मरु मे पानी का भला दर्शन करा गया
गडड गडड ! गडड गडड गडती गाडी ।

पानी ? पानी तो यहा पातालकुएँ मे अथवा नो
पानी वहाँ आकाश में, जहां
कालजड चट्टानों की दीवारें,
सिर पर गढ, मानो
उठाया हो मुक्का इस भयंकर धरा ने,
पानी की अचूक चमकती है यह पहचान !

जो, जो पेला बुरजे
सन्ध्यानी रंगीन चिताए
झळांझळां ऊभी को पद्मिनीओ
झांकी रही शाश्वतीना हैयानी सिंदुर-ज्वाला.

सन्ध्याये शमी, अंधकार-रणे
चेतनना रेला समी रेल लंबाये आ जती—
जाणे पळ पछी पळ
ऊंट खेंचे हळ :
चासे चासे धरती आ पडखुं बदली रही.
आवी रात, वेरती मुठ्ठी भरी तारा;
प्रभुनी फसल, हवे जोईए, केवीक हशे.
गडड गडड ! गडड गडड !—गडे गाड़ी.

[२४-६-१९६३]

देखो, देखो उस दूर के बुर्ज पर
संध्या की रंगीन चिता में
झिलमिलाती खड़ी कोई पद्मिनियाँ
झाँक रहीं है शाश्वती के हिये की सिंदूर-ज्वाला।

संध्या भी शमित हुई, अंधकार के मरु में
चेतन के रेले-जैसी रेल बढ़ती जाती है यह
मानो पल पीछे पल
ऊँट खींचे हल:
मेंड मेंड़ में धरती यह करवट बदल रही।
आई रात, विखेरती मुट्ठीभर तारे;
प्रभु की फसल, देखें अब कैसी होगी।
गडड गडड! गडड गडड! गड रही गाड़ी।

[२४-६-१६६३]

## रखड़ अने गुफावासी

### १. रखडु

क्यारे प्होंची जा[illegible] !
जिन्दगीनो फर्यां करुं फेर !
गण्यां करुं आ गाम, पेलुं शहेर,
अफाट भूलोकमां भ्रमंत.
क्यारे एनो हशे अंत ?

पीवां पाणी गामगामनां
अचिन्तित मिलनो ठामठामनां;
दर्शन करवां कंईक हदनां,
कहीं बेहदना,
कदी केवळ श्वासोच्छ्वास-जीवननां,
कदी जीवनानंद-स्पन्दथी सभर मरणनां.
अतिथिनी हैयाहथेळीमा पडे
प्रेमरोटीना कदीक बे टुक,
कदी अवगणना पेटभर, भांगे जन्मान्तरोनी भूख.
अतृप्ति छोडी, चित्त हवे तो धसे,
चितवी रह्युं एकांटशे---
क्यारे गुफामां समाहित थई स्वस्थ आत्म-रत्न लभे.

### २. गुफावासी

आवी प्होंच्यो घेर !
अरेरे, ठेरनो ठेर !
हजी नथी ज्यां वांसो वाळ्यो,

# यायावर और गुफावासी

## १. यायावर

कब पहुँच जाऊँ घर '
जिन्दगी का काटा करना चक्कर।
गिनता रहूँ ये गाँव वह शहर,
अफाट भूगोल में भटकता रहना है,
कब होगा इसका अन्त ?

पीना पानी गाव-गाँव का,
अचिन्तित मिलन ठाव-ठाव का,
दर्शन करना कहीं सीमा के,
कहीं असीम के,
कभी केवल [illegible] के
कभी जीवनानन्द-[illegible] मरण के
अतिथि [illegible]
प्रेम-रातें [illegible],
कभी अवमानना [illegible]
टूटती [illegible] की मृत्यु।
अन्तर [illegible] अब नो बसना,
सोच [illegible]
कब गुफा में समाहित हो स्वस्थ
आत्म रत निज को पाऊँ।

## २ गुफावासी

आ पहुँचा घर '
अरे र, जहाँ का तहाँ।
अभी नहीं पीठ सीधी की,

पलकभर थाक गाळ्यो,
कीडीओ चढवा मांडी त्यां तो;
—जुओ वातो !

उफ् ! नथी दिल गोठतुं घरमां :
भराई रहेवु बस दरमां ?
गगननी मुक्त उष्मा केरुं चुंबक
खेंचतुं स्हेलवा बस टहेलवा जगमां निरर्थक.
किरण चंचल पतंगोनी पीठ पर नर्तंत
ते गाढां निविड वनमां तिमिरजाळे फ़सायेलां
तेज-मत्स्य समां लसंत,
त्यां मन भटकतुं; छटकतुं तन
गृहपिंजरेथी, ए चिरंतन
इशाराने वर्ततुं वश;
दिशा दश
आकर्षतां, भंडार अणप्रीछ्या उघाडी.
ऊठो, वधो अगाडी.

गाडी मारुं घर;
पंथ ए ज मुज ग्रंथ मनभर;
गिरिसरिता लिपिमाला;
पर्वतो पर्व निराळां.
एकरूप थई भूमिलोक सकळथी.
अनुभववुं क्यारेक सायुज्य अकळथी.
हवे गुफा मुज समष्टिघेर,
रहुं न घेर.

[अमदावाद : १९५५
केरो : ३-८-१९५६]

पलकभर थकान उतारी कि
पुतलियाँ चढ़ने लग गई;
—देखिए ये बातें—

उफ! लगता नहीं जी घर मे :
उलझे रहना बस बिल मे?
गगन की मुक्त ऊष्मा का चुबक
खींचता सैर के लिए
बस टहलने को जग में निरर्थक।
चंचल किरणें पतगो की पीठ पर
करती नर्तन,
वे निबिड़ वन में तिमिरजाल मे
फँसी तेज-मछली-सी दीख रही,
वहाँ मन भटकने लगता,
छटक जाता तन गृह-पिजर से,
वह चिरतन सकेत का वशवर्ती रहना,
दिशाएँ दसों आकर्षित करती,
खजाने अनपहचाने खोल कर।
उठो, बढ़ो आगे।

गाड़ी मेरा घर;
पंथ ही मेरा ग्रंथ मनभर;
गिरि-सरिताएँ हैं लिपिमाला;
पर्वत निराले पर्व।
एकरूप होकर सकल भूमि-लोक से
अनुभव करना कभी सायुज्य अगम्य से।
अब समष्टि-परिवेश ही गुफा मेरे,
रहूँगा नहीं घर।

[अहमदाबाद : १९५५,
केरो : ३-८-१९५६]

## पगथी

शान्त आह्लादक पगथी—
अमथी अमथी पगने
—भांग्या मनने
ललचावी लई जती दूर.

वृक्षघटाथी चूई रह्या झीणाझीणा कंई सूर.
अंधकार जे सघन पर्णपुंजे पूरेलो दिनभर
हळवेथी ते रात्रि-आगमन वधावतो सरतो शो स्मितभर !

ऊंचा ऊंचा रुक्ष वृक्षथड पड्खे थई थडकती
अभिसरती
अगम्य (रम्य ?) प्रति
लई जती जाणे झाग्रीने करथी
शान्त आश्वासक पगथी.

[ऑक्सफर्ड . २२-६-१९५६]

## पगडण्डी

शान्त आल्हादक पगडण्डी
यों ही अकारण पैर को
—भग्न मन को,
लुभा कर ले जाती दूर।

वृक्ष-घटा से चू रहे झीने झीने कई सुर,
अंधकार जो सघन पर्णपुंज में भरा रहा दिनभर
धीरे-धीरे वह रात्रि-आगमन को
सत्कारता सरकता कैसा स्मितिभर !

ऊँचे-ऊँचे रूक्ष वृक्ष-तनों के पहलू से गुजरती
रुक रुक कर
अभिसरती
अगम्य (रम्य ?) के प्रति,
ले जाती जैसे हाथ से पकड़ कर
शान्त आश्वासक पगडण्डी।

[ऑक्सफर्ड २२-६-१९५८]

## होटेलमां सुखनी पथारो

होटेलमां सुखनी पथारी
स्वच्छ सुंदर ने प्रसन्न,
काले हती जेवी बीजी होटेलमां तेवी अहींये.
सिंधुफेन समी धवल चादर—
अरे, ना, मानवीनो कामनाना रंगनुं
इन्द्रधनु
ऊघडेल देखुं, ने महीं
डुसकांना डाघ.

[स्टोक-अपॉन-ट्रेन्ट :
६-६-१९५६]

## होटल में सुखका बिछौना

होटल में सुखका बिछौना
स्वच्छ, सुन्दर और प्रसन्न,
कल था जैसा दूसरे होटल में वैसा यहां भी।
सागर के झाग-सी धवल चादर—
अरे, नहीं, मानव की कामना के रंग का
इंद्रधनु
देखूं उधड़ा हुआ, और भीतर
सिसकियों के दाग।

[स्टॉक-ऑन-ट्रेन्ट]
[६-६-१९५६]

## भीतरो दुश्मन

जई चढ्यो हुं एकदिन को सुज्ञ गुणिजननी कने.
ना क्षमा हुं करी शकीश कदीय मारी जातने,—
लाग्यो हुं पढवा काव्य...शब्देशब्दनी वच्चे धसे
हैयामहींथी मौनसागरना तरंगो.
ऊछळी आवी मने ए शा हसे !
ने ऊपटी सौ जाय ऊघडतां ज जाणे काव्यरंगो.
शो क्षोभ मुज !
ने रसज्ञ समक्ष काव्य पढ्यं जवानो लोभ मुज !
केम किंतु अवाज मारो लागतो मुजने ज खोटो ?
मुख थकी वांच्ये जतो, ने अर्थनो
मारा ज मनमां वळे गोटो !
शी शब्दनी अधऊखडी पांखो
ने शी व्यंजनानी अर्धनीदरघेरी आंखो !
मानवहृदयना अतल अति ऊडाणमा लेवा मथे जे ताग,
ते छंद खाली हाथ आवी ब्हार डोले मणिविनाना नाग.
पद्यलयनी धनुर्दोरीथी तरल छूटेल
कल्पनाशर शिथिलगति अवकाशमां र्हे स्वैर करतुं स्हेल.
ने पवन जाणे पडी न गयेल हो,
काव्यपाठ थई जतो शढ जेम हा ढीलो-व्हीलो.
रसज्ञ, जेनी रगेरगे युगयुगतणी-उरउरतणी कविता

## भीतरी शत्रु

जा पहुँचा मैं एक दिन
किसी सुज्ञ गुणीजन के पास,
नहीं कर पाऊँगा क्षमा कभी मैं अपने आपको,—
सुनाने लगा मैं कविता...
शब्द-शब्द के बीच आ धँसतीं
हृदय में से मौन सागर की तरंगें।
उछल आतीं वे, मेरी कैसी हँसी उड़ातीं !
और उड़ जाते मानो सब उघड़ते ही काव्यरंग।
कैसा क्षोभ मेरा !
और रसज्ञ के समक्ष कविता पढ़ते जाने का लोभ मेरा !
किन्तु क्यों आवाज़ अपनी लगती मुझको ही खोटी ?
मुँह से पढ़ता जाता,
और मेरे ही मन में जगता अर्थ का असमजस !
शब्द के कैसे अधखुले पंख
और कैसी व्यंजनाकी अधनीद-छाई आँखें !
मानव हृदय की अतल गहराइयों में
लेना चाहे जो थाह,
वे छंद खाली हाथ आकर बाहर
डोलते बिना मणि के ज्यों नाग।
पद्यलय की प्रत्यंचा से तरल छूटे कल्पना-शर
शिथिल गति, अवकाश में
करते रहे स्वच्छन्द सैर।
और हवा जैसे गिर गई हो,—
काव्य-पाठ हो जाता पाल-सा ढीला।
रसज्ञ, जिसकी रग-रग में
युग-युग की—उर-उर की कविता

(कविता—
धरा पर अमृत सरिता)
मृदु स्पंदन करे,
ते एम स्हेजे केम अभिनंदन करे
मुज मत्त मौन-विडंबनाशां कवननुं ?

ते दीथी दहेशत मने
काव्य मारुं वांचतां मारी कने.
भीतरी दुश्मन
करतो रहे क्षणक्षण निरीक्षण.

[३०-३-१९५५]

## शब्द

मौन, तारो ताग लेवा
शब्द थई दउं काळजळमां
डूबकी।

[हीरोशीमा जतां गाडीमां]
[११-६-१९५७]

(कविता—
धरा पर अमृतसरिता)
मृदु स्पंदन करती,
वह यों ही कैसे अभिनन्दित करे
मेरे मत्त मौन-विडम्बन-से शब्द को ?

उस दिन से दहशत मुझे
काव्य अपना पढ़ते अपने ही समक्ष;
भीतरी शत्रु
करता रहता क्षण-क्षण निरीक्षण ।

[२०-३-१९५४]

## शब्द

मौन,
तेरी थाह लेने को
शब्द बन कर लगाऊँ डुबकी
कालजल में ।

[हीरोशीमा जाते हुए ट्रेन में]
[११-९-१९५७]

## चोखूणियुं मारुं खेतर

चोखूणियुं मारुं खेतर नानुं,
कागळनुं एक पानुं.
वावाझोडुं कोई क्यांकथी आव्युं;
क्षणनुं बीज त्यां वाव्युं.

कल्पना केरां पीने रसायण
बीज गळी गयुं छेक.
शब्दना अंकुर फूट्या, सुपल्लव-
पुष्पनो लच्यो विशेष

लूम्यां-झूम्यां फळ, रस अलौकिक :
अमृतधाराओ फूटे.
वावणी क्षणनी, लणो अनंतता :
लूटतां लेश न खूटे.

रसनुं अक्षयपात्र सदानुं
चोखूणियुं मारुं खेतर नानुं.

[१२-४-१९६५]

## छोटा मेरा खेत

छोटा मेरा खेत चौकोना
कागज़ का एक पन्ना,
कोई अंधड़ कहींसे आया
क्षण का बीज वहाँ बोया गया।

कल्पना के रसायनों को पी
बीज गल गया निःशेष,
शब्द के अंकुर फूटे,
पल्लव-पुष्पों से नमित हुआ विशेष।

झूमने लगे फल,
रस अलौकिक,
अमृत धाराएँ फूटती
रोपाई क्षण की,
कटाई अनंतता की
लुटते रहने से ज़रा ... नहीं कम होती।

रस का अक्षय पात्र सदा का
छोटा मेरा खेत चौकोना।

[१२-४-१९६५]

## दूधसागर : गोवा

[कालिदास प्रति]

**रम्याणि वीक्ष्य**, कवि, याद तमारी आवे :

आ दूधसागर तमे नीरख्यो हशे शुं ?
गोमान्तके गिरि तणां शिखरे छवायली
लीलोतरी मखमली चरती, मुदाथी
वागोळती रही रही अवकाशधेनु,
तेनी समुच्छलत दूधनी धार जेवो
आ धोध धन्य शुं बन्यो तम दृष्टिए हशे ?

एके न स्थान, कवि, भारतनुं सलूणुं,
सौन्दर्यतीर्थ नव एक, न जे तमारी
दृष्टे बन्युं पुनित ना, कवितासुधाना
अर्घ्ये तमे न अथवा कदी जे वधाव्युं.
आनन्त्यना पथिक, भारतनी निसर्ग-
श्रीने गिरा-मधुपटे चिर मंत्रनार,
छो अग्रयायी सहु भारतयात्रिकोना,
छो वदनार्ह सहु भारतप्रेमिकोना.
आ धोध छो नव तमे कदी हो निहाळ्यो,
ना, ना तथापि तमथी जरी ए अजाण्यो;—

## दूधसागर : गोवा

[कालिदास के प्रति]

**रम्याणि वीक्ष्य**, कवि, याद तुम्हारी आती

यह दूधसागर तुमने देखा होगा क्या ?
गोमान्तक में गिरि के शिखरों पर
मखमली हरियाली चरती समुद
जुगाली करती
रह रह कर महाकाश-धेनु,
उसकी समुच्छलित दूध की धारा-सा
यह प्रपात
क्या हुआ होगा तुम्हारी दृष्टि मे ?

एक भी ऐसा नही है स्थान [illegible]।,
हे कवि
नहीं एक भी ऐसा सौन्दर्यतीर्थ
जो तुम्हारी दृष्टि मे [illegible] हो।
या जिसका तुमने कभी स्वागत न किया हो
कविता-सुधा के अर्घ्य मे।
अनत के पथिक,
भारत की निसर्ग-श्री को
गिरा के चिर मधुछत्ते मे सगृहीत करनेवाले,
हे अग्रयायी सभी भारत-प्रेमिकों के।
यह प्रपात भले ही तुमने कभी न देखा हो,
तो भी नही रहा यह तुमसे थोड़ा भी अनजाना,—

आ दूधसागर अदीठ झिलाई जेह
स्वर्लोकथी, वनजटा थकी छूटतो जे
झूली रह्यो, प्रकृतिनो थडकत प्राण
उल्लासतो अमृतशुभ्र, हसावी र्‌हेतो
लोके युगोयुगथी भारतभाग्य सौम्य;
—शु कालिदासकविनी कविता स्वयं आ ?

रम्यो निहाळी, कवि, याद तमारा आवे.

[११-६-१९६३]

यह दूधसागर…
लपक लिया स्वर्लोक से
वनजटा से छूटकर झूलता रहता,
प्रकृति के धड़कते उल्लसित प्राणों सा
अमृतशुभ्र
सस्मित करता है इस लोक में
युगों-युगों से भारत सौम्य;

—क्या कालिदास कवि की कविता ही स्वय है यह ?
रम्यों को देख कर
कवि,
याद तुम्हारी आती !

[११-६-१९६३]

## शेक्सपियर

"प्रभु, तारे पृथ्वी जोईए, मारे लघु रंगमंच.
तारी लीलानुं रहस्य वेरायेलुं इतिहासे,
अनंत कालावधिमां हाथ लागे के न लागे;
मारे तो थोडांक वर्ष, तेमां 'व्यक्तमध्य' बधु
पामी जई, बे-अढीक घडीमा आ रंगभूमि
परे सौ लीलारहस्य [illegible] करी जवु."—ए
प्रतिज्ञाथी अवतर्या [illegible]कवि पृथ्वीपट.

ब्रह्मांडने उलेचव् लघ रंगभूमि परे
निसर्गनी रंगछटा नमणी, कराल, गूढ,
मानवनां प्रेम, द्वेष, ईर्ष्या, वेर, नृशंसता.
करुणाझकोर वळी. अपार मार्दव, नग्न
सौन्दर्यनी, नर्म-मर्म हास्यनो फुवारो शुचि
अदम्य शो उच्छलत अजस्र सुधा-धवल,
स्मित पूठे झूली रह्य झूमी रह्यु अश्रुबिन्दु,
अश्रुमा सकेलायेलु को आनंद-इन्द्रधनु—
जादूगर कवि, तारे रमत ए बधू.

जादूगर ? ना रे, रक्तनाडे सर्व अनुभव्यु,
नाडी परे नाणी जोया मत्त सौ संसाररंग.
शून्य शो मनीषी प्राज्ञ आंतरपुरुष कया
केन्द्रमां निवसी जोतो हशे समाधिस्थ बनी
विश्वचरखो समग्र. प्रेरणा-घूर्णित-नेत्रे
याथातथ्यथी पदार्थो [illegible] करी आकलन ?

## शेक्सपियर

"प्रभु, तुझे चाहिए पृथ्वी,
मुझे छोटा-सा रंगमंच।
तेरी लीला का रहस्य बिखरा है इतिहास में,
अनन्त कालावधि में हाथ लगे या न लगे;
मेरे पास तो है थोड़े वर्ष,
उसमें 'व्यक्त मध्य' मंत्र समझकर
दो-ढाई घड़ी में इस रंगभूमि पर
सारे लीलारहस्य को अंकित कर जाना।"
यह प्रतिज्ञा ले अवतरित हुआ नाट्यकवि पृथ्वी पट पर।

ब्रह्मांड को उलांघना नर रंगभूमि पर,
निसर्ग की रंगछटा बाँकी, कराल, गूढ़,
मनुष्य के प्रेम, द्वेष, ईर्ष्या, वैर, नृशंसता
करुणार्द्रता भी
अपार मार्दव, तृषा सौन्दर्य की,
नर्म-मर्म हास्य की शुचि फुहार
अदम्य उच्छलित अजस्र सुधास्रवन.
स्मित की ओट मे झलता अश्रुबिन्दु,
अश्रु में सिमटा हुआ आनंद का कोई इन्द्रधनुष:—
कवि जादूगर, तेरे लिए लीला सब।

जादूगर? नहीं। सबको अनुभव किया है रक्त छंद मे,
नाड़ी में जाँच लिया संसाररंगों को।
शून्य-सा प्राज्ञ मनीषी आंतरपुरुष
किस केन्द्र में रह कर देखता होगा
समाधिस्थ बन कर समग्र विश्व-चरखा,
प्रेरणा-घूर्णित नेत्रों से
याथातथ्य से पदार्थों का करके आकलन?

परकायाप्रवेशे जे सहज निपुण तोये
न्यारो ने न्यारो सदानो, शोधी वळो चारे खूणे;
प्रभुनी जेम ज निज सृष्टिमां जडे न-जडे.

नाट्य तारां मानवनी आत्मकथा, कवि !
मृत्युशील ससारनी अमृताभिषिक्त छवी.

[चतुर्थ जन्मशताब्दी
२३-४-१९६४]

### नागासाकी मां

मानव-आत्मा पर फडफोला :
नळिया पर ऊपस्या परपोटा
नागासाकीमा।

[१२-८-१९५७]

परकाया-प्रवेश में जो सहज ही निपुण है
फिर भी सदा के लिए न्यारा का न्यारा,
खोज लो चाहे चारों ओर;
प्रभु की तरह,
अपनी सृष्टि में मिले न मिले।

कवि,
तेरे नाट्य हैं
मनुष्य की आत्मकथा,
हैं मृत्युशील संसार की अमृताभिषिक्त छवि।

[चतुर्थ जन्मशताब्दी]
[२३-४-१९६४]

## नागासाकी में

मनुष्य की आत्मा पर फफोले :
खपरैल पर उभर आए बुलबुले
नागासाकी में।

[१२-८-१९५७]

१

उषा अमृत-कुंभ मस्तके भरी पधारी अहीं,
अहीं छलकी नव्य भारतनी काव्य-गंगोत्तरी,
तृषार्त विभु देशचित्त परिप्लावयती धसी,
उरो उजड अंकुरावती सुधानी धारा हसी,
प्रमाद अवसाद दैन्य अवमान-ना कर्दमे
सहस्रदल पूर्णप्रस्फुटित पद्म जहीं ऊघड्यू,
त्यजी फफडाट तुच्छ बबडाट तारी रह्यो
मनो-गगन राजहंस, द्वय पंख खोली अहीं·

अमारी कई वेदना, सुख कया न स्पर्श्या-रस्या
सुरोनी गुंथमाथी ते, कवि ? अरण्यनी मर्मरो,
गभीर जळ-बोल अर्णव तणा, रिमतो व्योमना,
तृणोनी अणप्रोछ गोष्टि, जड लोककोलाहलो,
समीर-शिहरन मोल मृदु हांफती छाती शा,
— लये अमर सौ स्वमे अव अनंतने अतरे

२

स्रव्यो स्थविर हिंदना उरथी शब्द शो ताजगी-
भर्यो, ध्वनिल देशदेश प्रति यात्री थै संचर्यो,
हजी नव समाप्त भारतकथा—कहेतो बधं,

# रवीन्द्रनाथ

१

मस्तक पर लेकर अमृतकुभ पधारी यहाँ ऊषा,
यही छलकी नव्य भारत की काव्य-गगोत्री,
तृषार्त विभु देशचित्त को परिप्लावित करती बढ़ती,
बजर उरो को अकुरित करती सुधा की धारा हम उठा ।
प्रमाद अवसाद दैन्य अवमान के कर्दम मे खिला,
सहस्रदल पूर्ण प्रस्फुटित पद्म ,
रोक कर फडफड़ाहट तुच्छ बकवास, खोल कर दोनो पख,
राजहस ले रहा थाह मनो-गगन की ।

हमारी किस वेदना का
कान मे सुखो को न किया छू कर रोमान्वित
सुरो की सुषमा से तूने, कवि ? –
अरण्यो की मरमर,
गभीर जलनिनाद अर्णव के,
व्योम के स्पन्दन, तृणो को अज्ञा [illegible]
जड लोक-[illegible],
हाँकती मृदु छाना-सा समीर मे सिहरता कगल,–
अमर लय मे साँस लेते हैं सभी अब ये अनन्त के उर मे ।

२

स्थविर भारत के उर मे स्रवित हुआ ताजा शब्द,
द्युतिमान यात्री होकर सचरा
देश देशान्तरों की ओर,
अब भी नहीं हुई समाप्त
भारतकथा,—कहता सर्वत्र ।

हती तिमिर-भींस,—गीत, कवि, ताहरो उत्तर.
बधे हृदयचित्त संकुचित बद्ध दीवालमां
सुरक्षित;—न पूर्व पश्चिमी तं व्योमचारी गणे.
न संस्कृति-अवाज, मर्त अवतार विचर्यो बधे.
कवीन्द्र, तव श्रेष्ठ काव्यकृति तारुं उत्-जीवन.

वह्यो शतक, आज शेष तव शब्द जीवंत तें;
करे गरक शर्ममां : तव बुलंद ए कंठ क्यां
पराभव विशेय, मुक्ति मही क्यांथी कार्पण्य आ ?
नवीनयुग विश्वमानव तणो ऊग्यो. नान्दी तें
अलापी. अव मुक्तकंठ अविराक. गजी रहो टूकडो
न मार्ग शिवनो जगे अवर सत्य सौन्दर्य ने प्रेमथी.

[कलकत्ता जतां :७-४-१९६१]

था निबिड निमिर का दबाव,
हे कवि ! उसका उत्तर था तेरा गीत,
सर्वत्र सकुन्चित हृदयचित्त
थे सुरक्षित चार-दीवारी मे बद,
व्योमचारि तू रहा
पूर्व-पश्चिम के भेदमे मुक्त।
तू नही केवल सस्कृति का स्वर
बल्कि, सर्वत्र विचरित उसका अवतार साक्षात्।
कवीन्द्र,
तेरी श्रेष्ठ कृति है—तेरा ही उत्-जीवन।

वीना शतक
आज शप है तेरा शब्द जीवत,
न्वो देता है हमे शर्म मे
पराभव मे भी बलद वह तेरा कठ कहाँ ?
और कहा उम मुक्ति मे हमारा यह कार्पण्य ?
उदित हुआ नया युग विश्वमानव का,
जिसकी नान्दी गाई तूने।
मुक्तिकठ गूंज उठो अब अविशक
सत्य सौदर्य ओर प्रेम के सिवा
विश्व मे नही है अन्य कोई निकट मार्ग शिव का।

[कलकत्ता जाते, ७-८-१९६१]

## कलमने नर्मदानी प्रार्थना

['...तारे खोळे छउं, - कवि नर्मदाशंकर]

हे आंतर सारस्वत मूर्ति,
तमे ज जीवो, गम्युं तमोने
अहीं निवसवुं मुजमां जो. ना
भार पडे नाहक संसार तणो कंई तम पर.
ठाला विनयविवेक, वितथ उपचार,
अहम्नो आंटी कैंक, हठीलां वेर, मुग्ध साफल्यझांझवां,
कीर्ति केरां नीर-वलोणां,
राग-अरागना मृत्युचुंबी उछाळ निरंतर,
उदर निमित्त आत्मा गीरवती महावंचना,
—नडे न तमने कंई ज. मुक्त निर्बंध क्षणेक्षण
जीवो, जीवो तमे ज मुजमां !
ने हुं ? हुं तो अशेप जाड्य मंहरती बत्सल सदा तमारी
शक्तिना वहोळे खोळे छुं.

[२३-१२-१९५८]

## नर्मदा की प्रार्थना—कलम से।

['...तेरी गोद में हूँ।'—कवि नर्मदाशंकर]

हे आंतरिक सारस्वत-मूर्ति,
तुम्ही जीओ,
भाया है तुम्हे यदि मुझमें निवास करना।
संसार का वृथा बोझ नही पडेगा तुम पर।—
खाली विनय-विवेक,
वितथ उपचार,
अहम् की अनेक गुत्थियाँ,
हठी बैर,
मुग्ध साफल्य-मरीचिका,
कीर्ति के जल-मथन,
राग विराग की मृत्यु-चुम्बित सतत उछाल,
उदर निमित्त आत्मा को गिरवी रखती महावचना—
कुछ भी नही होगा तुम्हे बाधक।
मुक्त निर्बन्ध प्रतिक्षण
जीओ, जीओ तुम्ही मुझमें।
और मै ?
मैं तो
अशेष जडता की संहारक
सदा-वत्सल
तुम्हारी शक्ति की विशाल गोद में हूँ।

[२३-११-१९५८]

## હિમાદ્રિની વિદાય લેતાં

हुं जाउं छुं घेर, छतांय जाणे
थतुं मने क्यां...क जई रह्यो छुं;
छोडी रह्यो ना घर होउं एम.

हिमाद्रि हे ! हिदजनोनी मोंघी
छे आत्मलक्ष्मी तणुं तुं पियेर.
तारा विनानां सहुये स्थळो ते
लाग्यां करे शे उरने अणोसरां ?
सोराय हैयुं तुजने स्मरीस्मरी
'आवीश', 'आवीश',-रट्या करंतुं

[जून १९५९]

## हिमाद्रि से विदा लेते

जा रहा हूँ मैं घर, फिर भी
लग रहा मुझे कहीं जा रहा हूँ;
जैसे जा रहा हूँ छोड़ कर घर।

हिमाद्रि हे! हिदजनों की महंगी
आत्म-लक्ष्मी का तू है पीहर।
तेरे बिना ये स्थल सभी
लगा करता है हृदय को उदास?
छटपटाता हिया तेरे वियोग में
रटा करता याद कर करके 'आऊंगा', 'आऊंगा,

[जून १९५९]

## गॉगल्स— आँखो

गॉगल्स-आंखोनी नैर्व्यक्तिक नजर,
जाणे आखो चहरो ज जोतो होय नहीं !
अधहसतो अधर,
बोलुबोलुं थती भ्रमर,
समम्या समी ए दृष्टि अधवच्चे तरी रही !

चंद्र-गळी-गयेला को श्याम मेघनो आकार
जोयो हतो पेगंबर जेवो एक राते रम्य,
मुखरेखा परे तेजधार
वर्षे जाणे कोई पर पार
थकी; एवो लागे आ गॉगल्स-च्हेरोये अगम्य.

[वास्को, गोवा में : १९६२]

## गॉगल्स—आँखें

गॉगल्स-आँखों की नैर्व्यक्तिक नज़र,
मानो सारा चेहरा ही देखता न हो !
अधहँसता अधर,
बोलने को तत्पर भ्रमर,
समस्या-सी यह दृष्टि तैर रही अधबीच !

चद्र को निगल गए किसी श्याम मेघ का आकार
देखा था पगम्बर-सा एक रम्य रात मे,
मुखरेखा पर तेजधारा
बरसती ज्यो किसी पर पार से
लगता वैसा ही यह गॉगल्स-चेहरा भी अगम्य।

[वास्को, गोवा मई, १९६२]

## हेमन्तनो शेडकढो—

हेमन्तनो शेडकढो तडको सवारनो
पीतां हतां पुष्प.
पीतां हतां घासतृणो
हीराकणीशां हिमचक्षुग मृदु;
ने चक्षुनी
अबोल हैयाचमके कही रह्यां :
    छे क्यांय ग्लानि
    के लागणीनी असंतोष-अतिनोष-म्लानि ?

डोकुं हलावी रही संमतिमां
पुष्पो फोरे सौरभप्रश्न मूक :
    पृथ्वी-जायां तोय प्रगन्न शां अमे !
    केम छो तमे ?

सरी गयो बाग थकी त्वरा-भर्यो,
पूठे रहुं अनुभवी, नव होय जाणे
भोंकाती शुं स्वर्गजासूस पुष्पो
केरी आंखो.

[१९५५]

## हेमन्त की धारोष्ण धूप

हेमन्त के प्रभात की धारोष्ण धूप
पी रहे थे पुष्प।
पी रहे थे घासतृण
हीराकणी-से मृदु हिमचक्षु, से,
और चक्षु की
अबोल हृदय-चमक से कह रहे थे
    है कहीं भी ग्लानि
    या लगाव की असतोष-अतितोष-म्लानि ?

ग्रीवा हिलाते संमति में
पुष्प महकाते सौरभप्रश्न मूक
    पृथ्वी-जात होने पर भी हम है कैसे प्रसन्न !
    कैसे हैं आप ?

त्वरा से खिसक गया मै बाग से,
और अनुभव कर रहा
पीठ पर चुभती हों ज्यो
स्वर्गजासूस पुष्पों की आँखें।

[१९८५]

## महा-वड

जटाजटिल जीर्णशीर्णवपु भव्य आ भारत,
महा-वड अडोल, कै युगथपाट खातो खडो.
हशे थड कयुं, कई ज वडवाईओ ? राफडा
अघोर-रव फूंफवे ! विकटदंष्ट्र प्राणी कंई
परस्पर प्रति शुं हिस्र धसतां ? छळी ठोकतां
धरा पर खरी, हणाय पशु, रांक जीवात कैं
पिलाय, जनमे-शमे. थर परे थरो कारमा
उधेई रचती रमे सुकल मूळजाळां ग्रसी.

तथापि चढतो अहो कहींयथी ज उर्वीरस
प्रफुल्ल करी डाळडाळ हसतो कुपेरो परे,
वरेण्य सविता नणां किरणभर्ग आमंत्रतो,
विहंगकुल पर्णपुंज मही जे लप्यां तेहने
अनंत नभगुंजती ऋतऋचाथी ट्हौकावतो.
अखंड धृतिवंत भारत श्वसंत आ शाश्वत.

[१-८-१९५८

## महावट

जटा-जटिल
जीर्णशीर्णवपु
भव्य यह भारत
महावट अकंप,
अनेक युग-थापें सहता खड़ा ।
तना कौनसा ?
वट की जड़-जटाएँ कौनसी ?
अघोर स्वर से फुत्कारते वल्माक
परस्पर हिस्र आक्रमण करते
विकट-दष्ट्र प्राणी !
चौंक कर थपथपाते धरा पर खुर
मारे जाते है पशु,
रक जतु पिचलते है, जन्म लेते हैं, मरते ह ।
रचर्ता हे दीमक पर्त पर भयकर पर्त
और खेलती है सूखी जड़ों को खाती ।

तो भी चढना है कही से उर्वीरस
डाली डाली को प्रफुल्लित करता
कोपलो पर हँसता,
वरेण्य सविता की पवित्र किरणो को आमन्त्रित करता,
पर्णपजों मे छिपे हुए विहंगकुलों को
अनंत नभव्यापी ऋत-ऋचाओं से कूजित करता ।
अखंड धृतिवंत
शाश्वत भारत यह
साँस ले रहा ।

[१-८-१९५८]

## शुं शुं साथे लई जईश हुं ?

शुं शुं साथे लई जईश हुं ? कहुं ?
लई जईश हुं साथे
खुल्ला खाली हाथे
पृथ्वी परनी रिद्धि हृदयभर--
वसन्तनी महको ऊठेली उज्ज्वल मुखशोभा जे नवतर,
मेघल साजे वृक्षडाळीओ मही झिलायो तडको,
विमळ ऊमट्यो जीवनभर को अदळक हृदय-उमळको,
मानवजाति तणा पगमा तरवरती क्रान्ति
अने मस्तके हिमाद्रिश्वेत झबकती शान्ति,
पशुनी धीरज, विहगना कलनृत्य, शिलानु मौन चिरंतन,
विरह-धडकन मिलन, सदा मिलने रत संतन
तणी शान्त शीळी स्मितशोभा,
अजकालना हृदयनिचोड समी मृदु कंपित
[illegible] तारकित आभा,
[illegible] हृदयोनो चाह
अने [illegible] पडतो जे 'आह !'
मित्र[illegible] मस्त, अजाणया मानवबंधु
तणा [illegible] अश्रुबिन्दु,
निद्रानी [illegible] नानी--कहो, एक नानकडो
स्वप्न-डाबडो,
(स्वप्न थजो ना सफळ बधा अहीया ज)
--अहो ए वसुधानो रसरिद्धिभर्यो बस स्वप्न-साज !--
वधु लोभ मने ना,
बाळकना कंई अनत आश-चमकतां नेनां
लई जईश हुं साथे खुल्ला बे खाली हाथे.
खुल्ला बे 'खाली' हाथे ?

[२३-१२-१९५४]

## क्या-क्या साथ ले जाऊँगा मैं ?

क्या-क्या साथ ले जाऊँगा मैं ? कहूँ ?
ले जाऊँगा मैं साथ, खुले खाली हाथों में
पृथ्वी पर की ऋद्धि हृदयभर—
वसन्त की महँकी-गमकी उज्ज्वल मुखशोभा नवतर,
वृक्षडालियों में भरी मेघल शाम की धूप,
उमड़ा जीवनभर कोई राशि-राशि विमल हृदय-हुलास,
मानवजाति के पैर में झलकती क्रान्ति
और मस्तक पर हिमाद्रिश्वेत झिलमिलाती शान्ति,
पशु का धैर्य, विहंग के कलनृत्य,
शिला का मौन चिरतन, विरह-धडकता मिलन,
सदा-मिलन-रत संतजन की शान्त शीतल स्मितशोभा,
अंधकार के हृदयनिचोड़ सी मृदु कंपित
सौम्य तारकित आभा,
प्रिय हृदयों की चाह
और प्रतिध्वनित जो 'आह !'
मित्रगोष्ठी मस्त, अनजान मानवबंधु का
क्वचित् एकाध पोंछा हुआ अश्रुबिन्दु,
निद्रा की नन्ही-सी लहरी –
कहिए कि एक छोटी-सी स्वप्न-डिबिया
(न हों मेरे सभी स्वप्न सफल यही)
—अहो वह, वसुधा का रसऋद्धिभरा बस स्वप्न-साज !
अधिक लोभ नहीं मुझको,
बालक के कई अनंत आशा-दीप्त नयन
ले जाऊँगा साथ
खुले दो खाली हाथों में।
खुले दो 'खाली' हाथों में ?

[२३-१२-१९५४]

# भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण